समरथ

मई–जून 2009 ◆ नई दिल्ली

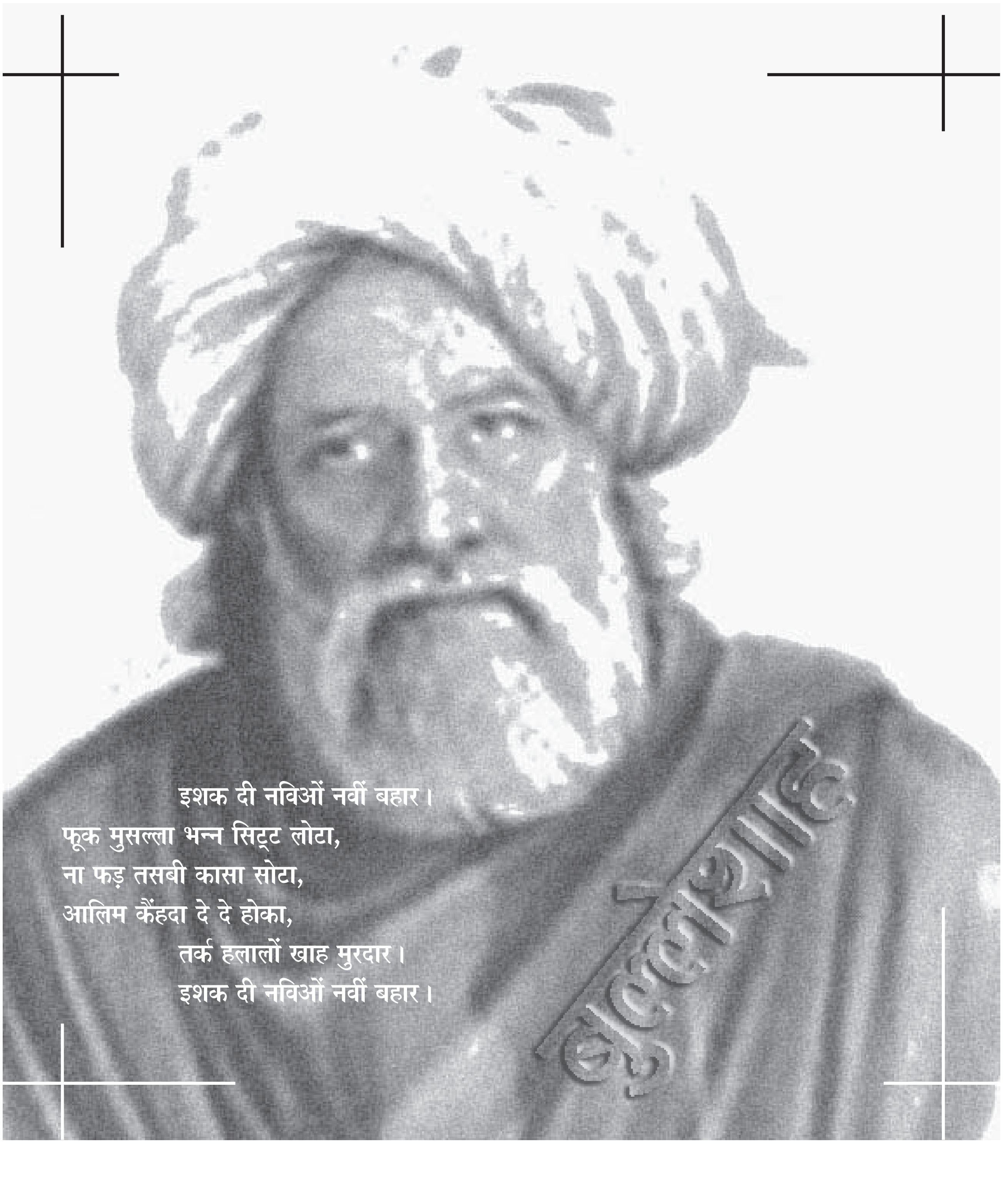

पंजाब की साझी विरासत का स्वागत

बाबा फरीद के श्लोक, बुल्ले शाह की काफियाँ, वारिस शाह की हीर और फजल शाह का किस्सा सोहणी-महीवाल ये सब पंजाबी साहित्य की अत्यंत लोकप्रिय और कालजयी कृतियाँ हैं। पंजाब के इन मुसलमान सूफी संतों ने दिव्य प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित की जिससे संपूर्ण लोकमानस रस से सरोबार हो उठा और इसी के साथ एक ऐसी साझी संस्कृति भी विकसित हुई जिसकी लहरों से मजहबी भेद-भाव की सभी खाइयाँ पट गईं।

पंजाबी साहित्य की यह बहुमूल्य विरासत एक तरह से संपूर्ण भारतीय साहित्य की भी अनमोल निधि है। लेकिन बहुत कुछ लिपि के अपरिचय और कुछ-कुछ भाषा की कठिनाई के कारण पंजाब के बाहर का बृहत्तर समाज इस धरोहर के उपयोग से वंचित रहता आया है। वैसे, इस अवरोध को तोड़ने की दिशा में इक्के-दुक्के प्रयास पहले भी हुए हैं। उदाहरण के लिए कुछ समय पहले प्रोफेसर हरभजन सिंह शेख फरीद और बुल्ले शाह की रचनाओं को हिंदी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में सुलभ कराने का स्तुत्य प्रयास कर चुके हैं। संभव है, इस प्रकार के कुछ और काम भी हुए हों।

लेकिन वारिस शाह की हीर और फजल शाह का किस्सा सोहणी-महीवाल तो, मेरी जानकारी में, हिंदी में पहले-पहल अब आ रहे हैं और कहना न होगा कि इस महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पंजाब के स्टडीज को है। ये चारों पुस्तकें 'पंजाब हेरीटेज सीरीज' के अंतर्गत एक बड़ी योजना के साथ तैयार की गई हैं। मुझे इस योजना से परिचित करवाने और फिर एक प्रकार से संयुक्त करने की कृपा मेरे आदरणीय शुभचिंतक प्रोफेसर अमरीक सिंह ने की है और इसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

सच पूछिए तो आज हिंदी में हीर को देखकर मुझे फिराक साहिब का वह शेर बरबस याद आता है :

दिल का इक काम जो बरसों से पड़ा रक्खा है
तुम ज़रा हाथ लगा दो तो हुआ रक्खा है।

हीर को हिंदी में लाना सचमुच दिल का ही काम है और ऐसे काम को अंजाम देने के लिए दिल भी बड़ा चाहिए। पंजाब भारत का वह बड़ा दिल है--इसे कौन नहीं जानता! फरीद, बुल्ले शाह, वारिस शाह, फजल शाह--ये सभी उसी दिल के टुकड़े हैं।

—नामवर सिंह

इशक दी नविओं नवीं बहार

इशक दी नविओं नवीं बहार।
फूक मुसल्ला[1] भन्न[2] सिट्ट लोटा,
ना फड़ तसबी[3] कासा सोटा,
आलिम कैंहदा दे दे होका,
तर्क हलालों खाह मुरदार।
इशक दी नविओं नवीं बहार।

उमर गवाई विच्च मसीती[4],
अन्दर भरिआ नाल पलीती[5],
कदे नमाज़ वहादत ना कीती,
हुण क्यों करना ऐं धाड़ो-धाड़।
इशक दी नविओं नवीं बहार।

जाँ में सबक इशक दा पढ़िआ[6],
मस्जिद कोलों जीऊड़ा[7] डरिआ[8],
भज्ज-भज्ज ठाकुर दुआरे वड़िआ[9],
घर विच्च पाया महिरम यार।
इशक दी नविओं नवीं बहार।
जाँ मैं रमज़[10] इशक दी पाई,
मैनूँ तूती[11] मार गवाई,
अन्दर बाहर होई सफाई,
जित वल्ल वेखाँ यारो यार।
इशक दी नविओं नवीं बहार।
हीर राँझण दे हो गए मेले,
भुल्ली हीर ढुँढेंदी मेले,
राँझण यार बगल विच्च खेले,
मैनूँ सुध बुध रही ना सार।
इशक दी नविओं नवीं बहार।

वेद कुरानाँ पढ़-पढ़ थक्के,
सिजदे करदिआँ घस गए मत्थे,
ना रब्ब तीरथ ना रब्ब मक्के,
जिन पाया तिन नूर अनवार[12]।
इशक दी नविओं नवीं बहार।
इशक भुलाया सिजदा तेरा,
हुण क्यों ऐवें पावें झेड़ा,
बुल्ला हो रहो चुप्प चुपेड़ा,
चुक्की सगली[13] कूक पुकार।
इशक दी नविओं नवीं बहार।

1., नमाज़ पढ़ने की चटाई या कपड़ा, 2. तोड़, 3. माला (इस्लामी), 4. मस्जिद, 5. गंदगी, 6. पढ़ा, 7. जीव, 8. डरा, 9. प्रविष्ट हुआ, 10. भेद, 11. मैं और तू की भावना, द्वैत भाव, 12. जलवा, 13. हांडी।

साधो किस नूँ कूक सुणावाँ

साधो किस नूँ कूक सुणावाँ,
मेरी बुक्कल दे विच्च चोर।
किते रामदास किते फतह मुहम्मद,
एहो कदीमी शोर।
मुसलमान सड़न तो चिढ़दे,
हिन्दू चिढ़दे गोर[1]।
साधो किस नूँ कूक सुणावाँ।
दोवें आपो विच्च लड़दे भिड़दे,
नित्त नित्त करदे खोर[2]।
चुक गए सभ झगड़े झेड़े,
निकल प्या कोई होर।
साधो किस नूँ कूक सुणावाँ।
जिस ढूँढ़ पाया तिस पाया,
नाहीं झुर झुर होया मोर।
पीर पीराँ बगदाद असाडा,
मुरशद तखत लाहौर।
साधो किस नूँ कूक सुणावाँ।
ओस सी सभ इक्को कोई,
आप गुड्डी आप डोर।
जेहड़ा लेख मत्थे दा लिखेआ,
कौण करे भन्न तोड़।
साधो किस नूँ कूक सुणावाँ।
ओहा आप साईं जिसनूँ भाल लए,
मैनूँ ओसे दी गत ज़ोर।
तुसीं पकड़ लवो ताँ मैं दस्सणाँ हाँ,
बुल्ला शाह दा चुगलीखोर।
साधो किस नूँ कूक सुणावाँ।
1. कब्र, 2. चिड़ना।

—बुल्लेशाह

संस्कृति के नाम पर

*राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सोशल इंजीनियरिंग परियोजना के तहत बच्चों को मेघालय से कर्नाटक लाया जा रहा है और उन्हें उनकी मूल संस्कृति से काटकर हिंदुत्व की घुट्टी पिलाई जा रही है। **संजना** की तहकीकात।*

कर्नाटक के 35 स्कूलों और मेघालय के चार जिलों में की गई तीन महीने की गहन पड़ताल के दौरान तहलका ने पाया कि साल 2001 से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सोशल इंजीनियरिंग की एक ऐसी परियोजना पर काम कर रहा है जिसके तहत अब तक मेघालय के कम से कम 1600 बच्चों को कर्नाटक में लाकर उन्हें कन्नड़ और तथाकथित भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ाया जा रहा है। मेघालय से लाए जाने वाले इन बच्चों के नवीनतम बैच में कुल 160 बच्चे थे जिन्हें संघ के करीब 30 कार्यकर्ताओं द्वारा सात जून को 50 घंटे का सफर तय करके बेंगलुरु लाया गया था।

इस परियोजना के मुख्य संचालक संघ के कार्यकर्ता तुकाराम शेट्टी ने तीन महीनों के दौरान तहलका के सामने बेबाकी से स्वीकार किया कि यह संघ और इसकी सहयोगी संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे एक बड़े अभियान का हिस्सा है। उनका कहना था, 'संघ ने इलाके में अपने विस्तार और ईसाई मिशनरी समूहों से निपटने के मकसद से एक दीर्घकालिक योजना बनाई है। ये बच्चे इसी का एक हिस्सा हैं। आने वाले समय में ये बच्चे हमारे मूल्यों का अपने परिवार के सदस्यों में प्रसार करेंगे।' बचपन से ही संघ से जुड़े रहे शेट्टी कर्नाटक के दक्षिण कन्नडा जिले से ताल्लुक रखते हैं और उन्होंने अपने जीवन के तकरीबन आठ वर्ष मेघालय में, वहां की भौगोलिक स्थिति और संस्कृति का अध्ययन करने में बिताए हैं।

अगर मेघालय की बात की जाए तो ये देश के उन गिने-चुने राज्यों में है जहां ईसाई समुदाय कुल जनसंख्या का करीब 70 फीसदी होकर बहुसंख्यक समुदाय की भूमिका में है। बाकी 30 फीसदी में करीब 13 फीसदी हिंदू हैं और 11.5 फीसदी यहां के मूल आदिवासी हैं। सबसे पहली बार ईसाई मिशनरी यहां उन्नीसवीं सदी के मध्य में आए थे। व्यापक स्तर पर धर्मांतरण के बावजूद आदिवासियों की एक बड़ी आबादी अभी भी अपने मूल धर्मों से जुड़ी हुई है और इसमें कहीं न कहीं धर्म परिवर्तन करने वालों के प्रति नाराजगी भी है। संघ, आदिवासियों की इसी नाराजगी का फायदा उठाना चाहता है और जैसा कि शेट्टी मानते हैं कि बच्चे और उनकी शिक्षा इसकी शुरुआत है।

बेंगलुरु से करीब 500 किलोमीटर दूर उप्पूर में स्थित थिंकबेट्टू हायर प्राइमरी एंड सेकंडरी स्कूल उन 35 स्कूलों में से है जहां इन बच्चों को पढ़ाया जा रहा है। 2008 में छह से सात साल की उम्र के 17 बच्चों को मेघालय से यहां लाया गया था। स्कूल के प्रधानाध्यापक के कहने पर ये बच्चे एक-एक कर खड़े होते हैं और अपना परिचय स्थानीय कन्नड़ भाषा में देते हैं। मगर अध्यापक महोदय खुद अपना परिचय देने से ये कह कर इनकार कर देते हैं कि 'आप बच्चों को देखने आए हैं, वे आपके सामने हैं। अगर मैं आपको अपना नाम बताऊंगा तो आप उसे मेरे खिलाफ इस्तेमाल करेंगीं।' बस इतना पता चल पाता है कि वो एक पूर्व बैंक कर्मचारी हैं और कोने में खड़ी निर्मला नाम की महिला उनकी पत्नी है।

इसके बाद बच्चों से हाल ही में याद किया गया एक श्लोक सुनाने को कहा जाता है। घुटे सिर वाले ये बच्चे अध्यापक के सम्मान में गुरुर्बृह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः... का पाठ करने लगते हैं। जिस हॉल में ये सब हो रहा है दरअसल वही इनके शयन, अध्ययन और भोजन, तीनों कक्षों का काम करता है। मेघालय के चार जिलों - रिभोई, वेस्ट खासी हिल्स, ईस्ट खासी हिल्स और जंतिया हिल्स से कर्नाटक में संघ से जुड़े विभिन्न स्कूलों में लाए गए ये बच्चे मूलतः खासी और जंतिया आदिवासी समुदायों से संबंध रखते हैं। परंपरागत रूप से खासी आदिवासी सेंग खासी और जंतिया आदिवासी नियाम्त्रै धर्म को मानते हैं।

मंघ जिले के बीजी नगर में स्थित श्री आदिचुंचनगिरी हायर प्राइमरी स्कूल के प्रधानाचार्य मंजे गौड़ा कहते हैं, 'अगर ये बच्चे मेघालय में ही रहते तो ये अब तक तो ईसाई बन चुके होते। संघ इन्हें बचाने का प्रयास कर रहा है। जो शिक्षा बच्चे यहां प्राप्त करते हैं उसमें मजबूत सांस्कृतिक मूल्य स्थापित करना शामिल होता है। जब ये यहां से वापस अपने घर जाएंगे तो इन संस्कारों का अपने परिवारों में प्रसार करेंगे।' जिन सांस्कृतिक मूल्यों की बात गौड़ा कर रहे हैं उनमें धार्मिक मंत्रोच्चार, हिंदू तीज त्यौहारों का ज्ञान और मांसाहारी भोजन, जो कि मेघालय में अत्यधिक प्रचलित है, से इन बच्चों को दूर रखना शामिल है।

मगर इससे होगा क्या? शेट्टी तहलका को बताते हैं कि छोटी उम्र में भारत के सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ाव और अनुशासन तो दरअसल पहला कदम है। 'यह महत्वपूर्ण है कि ये बच्चे इन मूल्यों को कच्ची उम्र में आत्मसात करें। ये इन्हें हमारे और नजदीक और ईसाइयों की जीवन पद्धति से और दूर ले जाएगा। हम उन्हें श्लोक सिखाते हैं जिससे कि वे ईसाई धर्मगीतों को न गाएं। हम उन्हें मांस से दूर कर देते हैं ताकि वे अपने धर्म में रची-बसी जीव-बलि की

परंपरा से घृणा करने लगें’ वे कहते हैं, ‘अंततः जब संघ उनसे कहेगा कि गाय एक पवित्र जीव है और जो इसे मारकर खाते हैं उनका समाज में कोई स्थान नहीं है तो ये उसे मानेंगे।’ क्या इन बच्चों को आरएसएस के भावी झंडाबरदारों की भूमिका के लिए तैयार किया जा रहा है, इस सवाल पर शेट्टी केवल इतना कहते हैं कि वे किसी न किसी रूप में ‘परिवार’ का हिस्सा रहेंगे और इस बारे में समय ही बताएगा।

तहलका ने कई स्कूलों का दौरा किया और पाया कि विभिन्न स्कूलों में सिखाये जा रहे सांस्कृतिक मूल्यों में तो कोई खास फर्क नहीं है मगर आरएसएस की विचारधारा में कोई कितनी गहरी डुबकी लगाएगा ये इस बात पर निर्भर करता है कि वह बच्चा पढ़ता कौन से स्कूल में है। जो बच्चे मजबूत आर्थिक स्थिति वाले परिवारों से संबंध रखते हैं वे ऐसे स्कूलों में रहते हैं जहां पढ़ने और रहने की समुचित व्यवस्था होती है क्योंकि उनके परिवार इसका खर्च उठाने की स्थिति में होते है। इन अपेक्षाकृत सुविधासंपन्न स्कूलों में अनुशासन उतना कड़ा नहीं होता। मगर उत्तर-पूर्वी राज्य से आए इन बच्चों में से जितनों से हमने मुलाकात की उनमें से करीब 60 फीसदी कमजोर आर्थिक पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले थे जो उप्पूर के थिंकबेट्टू जैसे नाम-मात्र की सुविधाओं और कड़े अनुशासन वाली व्यवस्था में रहते हैं।

खास बात ये है कि ज्यादातर स्कूल जिनमें इन बाहरी बच्चों को रखा गया है कर्नाटक के उस तटीय इलाके में स्थित हैं जो हाल के कुछ वर्षों में सांप्रदायिक हिंसा के केंद्र में रहा है। इनमें से कुछ स्थान हैं पुत्तूर, कल्लाड्का, कॉप, कोल्लुर, उप्पूर, डेरालाकट्टे, दक्षिण कन्नडा में मूदबिद्री और उडुपी और चिकमंगलूर जिले। इनके अलावा बच्चों को प्रभावशाली आश्रमों द्वारा चलाए जा रहे सुत्तूर के जेएसएस मठ, मांड्या के आदिचुंचनगिरी और चित्रगुड़ा के मुरुगराजेंद्र जैसे स्कूलों में भी रखा गया है।

मगर मेघालय के ये नन्हे-मुन्ने हजारों किलोमीटर दूर कर्नाटक में कैसे आ जाते हैं? इन्हें वहां से लाने का तरीका क्या है? तहलका ने जिस भी बच्चे या उसके माता-पिता से बात की सबका कहना था कि ये सब किये जाने के पीछे सबसे बड़ा हाथ तुकाराम शेट्टी का है।

आरएसएस से संबद्ध संस्था सेवा भारती के पूर्व कार्यकर्ता शेट्टी जंतिया हिल्स के जोवाई में स्थित ले सिन्शर कल्चरल सोसाइटी के सर्वेसर्वा हैं। हालांकि इस संगठन को तो कोई इसके मुख्यालय से बाहर ही नहीं जानता है किंतु तुकाराम या बह राम - मेघालय में शेट्टी इस नाम से भी जाने जाते हैं - का नाम यहां बच्चा-बच्चा जानता है। साफ है कि संगठन तो आरएसएस से जरूरी दूरी प्रदर्शित करने का ज़रिया भर है। राजधानी शिलांग से लेकर दूरदराज के गांव तक सभी जानते हैं कि बच्चों को कर्नाटक ले जाने वाला असल संगठन संघ ही है। इस संस्था के जंतिया हिल्स जिले में तीन दफ्तर हैं - जोवाई, नरतियांग और शॉगपॉग। इसके अलावा सेवा भारती और कल्याण आश्रम जैसे संगठन भी हैं जो बच्चों की पहचान करने और उन्हें कर्नाटक भेजने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

स्थानीय सेंग खासी स्कूल में अध्यापक और कल्याण आश्रम में रहने वाले योलिन खरूमिनी कहते हैं, ‘हमसे उन परिवारों की पहचान करने के लिए कहा जाता है जो ईसाई नहीं बने हैं और जिनका अपने मूल धर्म से काफी जुड़ाव है। साधारणतः ये परिवार ईसाइयों के बारे में अच्छा नहीं सोचते। इनके सामने बच्चों को कर्नाटक में पढ़ाने का प्रस्ताव रखा जाता है। हम उन्हें हमेशा ये भी बताते हैं कि उनके बच्चों को सेंग खासी या नियाम्त्रे की परंपराओं के मुताबिक ही शिक्षा दी जाएगी।’ खरूमिनी की खुद की भतीजी कर्डमोन खरूमिनी भी कर्नाटक के मंगला नर्सिंग स्कूल में पढ़ती है।

कॉप (जिला उडुपी) के विद्यानिकेतन स्कूल की दसवीं कक्षा में पढ़ रही खतबियांग रिम्बाई विस्तार से बताती है कि कैसे 200 बच्चों को विभिन्न गांवों से बेंगलुरु लाया गया था। ‘हमें कई समूहों में बांटकर बड़े बच्चों को उनका इंचार्ज बना दिया गया। फिर शिलांग से हमें टाटा सूमो में बिठाकर ट्रेन पकड़ने के लिए गुवाहाटी ले जाया गया’ वो कहती है। बेंगलुरु में उन्हें विभिन्न स्कूलों में भेजने से पहले आरएसएस के कार्यालय ले जाया गया था।

एक चौंकाने वाली बात तहलका को शिलांग के एक संघ कार्यकर्ता प्रफुल्ल कोच और थिकबेट्टू स्कूल के प्रमुख ने ये बताया कि इस बात का हमेशा ध्यान रखा जाता है कि एक ही परिवार के दो बच्चों को हमेशा अलग-अलग स्कूलों में भर्ती किया जाए। ‘अगर वे साथ नहीं हैं तो उन्हें अनुशासित करना आसान होता है। अगर हमें उन्हें बदलना है तो उन पर नियंत्रण रखना ही होगा। उनका घर से जितना कम संपर्क रहे उतना ही बढ़िया।’

तहलका को एक ही परिवार के ऐसे कई बच्चे अलग-अलग स्कूलों में मिले - खतबियांग का भाई सप्लीबियांग रिंबाई केरल के कासरगॉड में स्थित प्रशांति विद्या निकेतन में पढ़ता है जबकि वो कर्नाटक में विद्या निकेतन स्कूल में पढ़ रही है। विद्यानिकेतन के ही एक और छात्र रीन्बॉर्न तेरियांग की बहन मैसूर के जेएसएस मठ स्कूल में पढ़ रही है। मंघ के अभिनव भारती बॉइज हॉस्टल के बेद सिंपली की बहन विद्यानिकेतन में पढ़ती है। मंघ जिले के आदिचुंचनगिरी स्कूल में पढ़ने वाले इवानरोई लांगबांग की भी बहन डायमोन्लांकी शिमोगा के वनश्री स्कूल में पढ़ती है। यहां ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें एक ही परिवार के दो या ज्यादा बच्चों को एक साथ पढ़ने दिया जा रहा हो। ऐसा क्यों किया जा रहा है पूछने पर ये बच्चे कुछ बोल ही नहीं पाते।

जब तहलका ने बच्चों के परिवारवालों से पूछा कि वे अपने बच्चों को अलग-अलग क्यों रख रहे हैं तो उनका जवाब था कि इस बारे में उन्हें काफी बाद में जाकर पता लगा। खतबियांग और सप्लीबियांग की बड़ी बहन क्लिस रिंबाई बताती हैं, ‘जब वे गए थे तो हमें बस इतना पता था कि वे बेंगलुरु जा रहे हैं। हमें स्कूल के बारे में कुछ पता ही नहीं था। ये तो काफी बाद में हमें पता लगा

कि वे अलग कर दिये गए हैं और बेंगलुरु में नहीं हैं। खतबियांग ने हमें ये भी बताया कि वो फिर से कक्षा सात में ही पढ़ रही है।' जंतिया हिल्स में रहने वाला रिंबाई परिवार काफी समृद्ध है और बच्चों के पिता कोरेन चिरमांग आरएसएस से सहानुभूति रखने वालों में से हैं जिन्होंने अपने बच्चों के अलावा और भी कई बच्चों को कर्नाटक भेजने में अहम भूमिका निभाई है। 'वे पहले काफी सक्रिय रहा करते थे मगर हाल ही में काफी बीमार होने की वजह से आरएसएस के साथ दूसरे गांवों में नहीं जा पा रहे हैं।' क्लिस कहती हैं।

अपने भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान और वातावरण से दूर रहने का इन छोटे-छोटे बच्चों पर अलग-अलग तरीके से असर पड़ रहा है। जिन स्कूलों में भी तहलका गया वहां के हॉस्टल वॉर्डन, अध्यापकों और स्वयं बच्चों ने ये स्वीकारा कि मेघालय के उनके गांव और कर्नाटक के उनके स्कूलों की हवा-पानी में काफी अंतर होने की वजह से बच्चों को तरह-तरह की शारीरिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। चमराजनगर के दीनबंधु चिल्ड्रंस होम के सचिव जीएस जयदेव के मुताबिक मेघालय से आए छः साल के तीन बच्चों - शाइनिंग लामो, सिबिनरिंगखेल्म और स्पिड खोंगसेइ - के शरीर पर कर्नाटक की भीषण गर्मी की वजह से लंबे समय तक जबर्दस्त चकत्ते रहे। थिंकबेट्टू स्कूल में भी कई बच्चे हमें ऐसे मिले जिनकी त्वचा पर कई महीनों से वहां रहने के बावजूद जलने के निशान साफ देखे जा सकते थे। नागमंगला में आदिचुंचनगिरी मठ द्वारा चलाए जाने वाले संस्कृत कॉलेज में पढ़ने वाले मेघालय के 11 बच्चों में से सबसे बड़े आयोहिदाहुन रैबोन ने तहलका को बताया कि मेघालय से आने वाले तीन छोटे बच्चे पिछले काफी समय से बीमार चल रहे हैं क्योंकि उन्हें स्कूल में दिया जाने वाला खाना रास नहीं आ रहा है।

इन बच्चों के ऊपर उन्हें अपने घरों से यहां लाए जाने का जबर्दस्त मानसिक प्रभाव भी पड़ रहा है। जिन भी स्कूलों में तहलका जा सका उनमें स्कूल के अधिकारियों ने बच्चों को बुलाकर उन्हें कन्नड़ में अपना परिचय देने का आदेश दिया। स्कूल के संचालकों के लिए तो ये बड़े गर्व की बात थी कि बाहर से आए ये बच्चे उनकी भाषा को इतने अच्छे तरीके से बोल पा रहे हैं। किंतु बच्चों पर अब तक सीखा सब कुछ भूलने का क्या असर हो रहा है इसकी शायद किसी को कोई परवाह नहीं। विभिन्न स्कूलों के अधिकारियों का दावा है कि मेघालय से आए बच्चे दूसरे बच्चों के साथ अच्छे से घुल-मिल गए हैं मगर सच तो ये है कि ऐसा हो नहीं रहा है। बच्चों से कुछ मिनटों की बातचीत में ही हमें पता लगता है कि कैसे स्थानीय बच्चे उनके अलग तरह के नाम और शक्लों को लेकर उनका मजाक बनाते हैं और इसलिए वे अपने जैसे बच्चों के साथ ही रहना पसंद करते हैं।

हमने एक कक्षा में पाया कि जहां स्थानीय बच्चे एक बेंच पर चार के अनुपात में बैठे हुए थे वहीं मेघालय से आए छः-सात बच्चे एक-दूसरे के साथ बैठने की कोशिश में बस किसी तरह बेंच पर अटके हुए थे। जहां इन बच्चों की संख्या काफी कम है वहां ये अपने में ही गुम रहने लगे हैं। बड़े बच्चों के लिए स्कूल की भौगोलिक स्थिति भी काफी निराश करने वाली है। बेंगलुरु से करीब 150 किमी दूर नागमंगला में नवीं कक्षा में पढ़ रहा इवानरोई लांगबांग अपनी निराशा कुछ इस तरह व्यक्त करता है, 'हमें बताया गया था कि मैं बेंगलुरु में पढूंगा। ये तो यहां आने के बाद मुझे पता चला कि ये बेंगलुरु से काफी दूर है। यहां हम चाहरदीवारी से बाहर नहीं जा सकते और अगर कभी चले भी जाएं तो उसका कोई फायदा नहीं क्योंकि बाहर वैसे भी कुछ है ही नहीं।'

इन बच्चों को मेघालय से लाकर पूरी तरह से कन्नड़ भाषी माहौल में डुबो देने का नतीजा छमराजनगर में स्थित दीनबंधु चिल्ड्रन होम में देखा जा सकता है। यहां की केयरटेकर छह साल के एक बच्चे की प्रगति को बयान करते हुए कहती है, 'सिबिन को यहां रहते हुए अभी दो ही महीने हुए हैं पर उसने काफी कन्नड़ सीख ली है। एक बार उसके घर से फोन आया तो उसने सवालों के जवाब कन्नड़ में देने शुरू कर दिए जो कि जाहिर है कि घरवालों की समझ में बिल्कुल नहीं आई।' असंवेदनहीनता देखिए कि इसके बाद केयरटेकर इतनी जोर से हंसती है जैसे कि यह कोई मजाक की बात हो।

फिर वह कहती है, '45 मिनट तक वह महिला जो कि शायद उसकी मां होगी, कोशिश करती रही। सिबिन के पास कोई जवाब नहीं था क्योंकि वह अपनी भाषा भूल गया था।' इसके बाद वह सिबिन को बताने लगती है कि रात के भोजन को कन्नड़ में क्या कहते हैं।

इस तरह से देखा जाए तो ये बच्चे जो शारीरिक और मानसिक नुकसान झेल रहे हैं वह सामान्य बोर्डिंग स्कूलों के बच्चों से अलग है। इन बच्चों को यहां लाने के पीछे का उद्देश्य कहीं बड़ा है यह कोच जैसे संघ कार्यकर्ता भी मानते हैं। सवाल उठता है कि इतनी छोटी उम्र के बच्चों को इनके मां-बाप आखिर क्यों इतनी दूर भेज रहे हैं? मेघालय के आठ गांवों की अपनी यात्र के दौरान तहलका ने पाया कि ऐसे लोगों में से ज्यादातर गरीब हैं जो इस उम्मीद में अपने बच्चों को संघ को सौंप देते हैं कि उनकी देखभाल अच्छी तरह से हो सकेगी। इसका उनसे वादा भी किया जाता है। अक्सर ऐसे बच्चों का कोई बड़ा भाई या बहन पहले ही इस तरह के स्कूलों में पढ़ रहा होता है।

बारीकी से पड़ताल करने पर पता चलता है कि इस समूची प्रक्रिया में झूठ के कई ताने-बाने हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

मां-बाप ने लिखित रूप में अपनी सहमति दे दी है

जब तहलका ने कर्नाटक के इन स्कूलों का दौरा कर उनसे वे कागजात मांगे जो ये साबित कर सकें कि इन बच्चों का एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरण कानूनी है तो हमें गांव के मुखिया रैंगबा शनांग द्वारा हस्ताक्षरित पत्र दिखाए गए जिसमें लिखा गया था कि इनके परिवारों की माली हालत बहुत खराब है। इसके साथ ही हमें बच्चों के जन्म और जाति प्रमाणपत्र भी दिखाए गए। मगर

किसी भी स्कूल ने कोई ऐसा पत्र नहीं दिखाया जिस पर बच्चे के मां-बाप के दस्तखत हों और जिसमें साफ तौर पर जिक्र हो कि बच्चे को किस स्कूल के सुपुर्द किया जा रहा है। मेघालय में भी तहलका जिन लोगों से मिला उनमें से भी किसी के पास इस तरह के हस्ताक्षरित सहमति पत्र की कॉपी नहीं थी। बाल न्याय कानून-2000 कहता है कि बच्चों के कानूनी स्थानांतरण के लिए इस तरह के सहमति पत्र अनिवार्य हैं। मगर इस कानून का खुलेआम उल्लंघन हो रहा है। इस तरह से देखा जाए तो ये बच्चों की तस्करी जैसा है।

स्कूलों में सेंग खासी और नियाम्त्रे धर्मों की शिक्षा दी जाती है

खासी और जंतिया जनजाति में ईसाई धर्म अपना चुके लोगों और बाकियों के बीच तनातनी रहती है। संघ द्वारा ध्यान से ऐसे बच्चों को चुना जाता है जो गरीब घरों से हैं और अब तक ईसाई नहीं बने हैं। स्वेर गांव की बिए नांगरूम कहती हैं, 'मुझसे कहा गया कि अपनी बेटी को धर्म परिवर्तन से बचाने का एक ही रास्ता है कि उसे बाहर भेज दो। अगर मैंने ऐसा नहीं किया तो चर्च मेरे बच्चों को ले जाएगा और उन्हें पादरी और नन बना देगा। मैं बहुत डरी हुई थी इसलिए मैं अपनी बेटी को वहां भेजने के लिए राजी हो गई।' छह साल बीत चुके हैं मगर बिए को अब भी उस स्कूल के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है जहां उसकी बेटी पढ़ रही है। उसके पास कुछ है तो बस बेटी की कक्षा का एक फोटो। वह कहती है, 'अगर मुझे पता चल भी जाए कि वह कहां है तो मेरे पास उस तक पहुंचने और उसे वापस लाने लायक पैसा नहीं है। पर मैं दूसरे बच्चे को कभी भी वहां नहीं भेजूंगी।'

बिए का टूटा-फूटा घर, जिसमें वह अपनी मां और तीन दूसरे बच्चों के साथ रहती है, उसकी गरीबी की कहानी कह देता है। इससे ये भी संकेत मिलता है कि आखिर क्यों लोग चाहकर भी अपने बच्चों को वापस नहीं ला पाते। दरअसल उनके पास इतना भी पैसा नहीं होता। कई लोगों का तहलका से कहना था कि उनके बच्चे संघ के जिन स्कूलों में पढ़ रहे हैं वहां उनके धर्म की शिक्षाएं दी जाती हैं। मोखेप गांव के जेल चिरमांग के घर में तहलका को फ्रेम में लगी एक फोटो दिखी। इसमें जेल की बेटी रानी चिरमांग को उसके स्कूल के संरक्षक संत श्री बालगंगाधरनाथ सम्मानित करते हुए नजर आ रहे थे। हमने जेल से पूछा कि भगवा चोले में नजर आ रहे ये संत कौन हैं तो उसका जवाब था कि वे एक सेंग खासी संत हैं जो उस स्कूल को चलाते हैं। उसकी आवाज में जरा भी शंका नहीं थी। बाद में पता चला कि उसका पति डेनिस सिहांगशे संघ का कार्यकर्ता है जिसने माना कि अपनी बेटी का उदाहरण देकर उसने कई दूसरे लोगों को अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने के लिए राजी किया है। डेनिस के शब्दों में 'लोगों की संघ के बारे में गलत धारणा है। मैं हमेशा उन्हें यही कहता हूं कि संघ उन्हें अच्छी शिक्षा और संस्कृति देगा।'

ज्यादातर मां-बाप इससे अनजान होते हैं कि इन स्कूलों में उनकी संस्कृति के बजाय किसी और ही चीज की घुट्टी पिलाई जा रही है। जबरन थोपी जा रही दूसरी संस्कृति के तहत इन बच्चों को जो किताबें दी जाती हैं वे बेंगलुरु स्थित संघ के प्रकाशन गृहों में छपती हैं। जेएसएस स्कूल की लाइब्रेरी भारतीय संस्कृति प्रकाशन से छपकर आईं उन किताबों से भरी पड़ी है जो संघ की विचारधारा पर आधारित हैं। इनमें सेंग खासी या नियाम्त्रे धर्म की शिक्षाओं का कोई अंश नजर नहीं आता।

बच्चे निराश्रित और असहाय हैं

गैरआदिवासी समाज में पिता के परिवार को छोड़ देने से परिवार को निराश्रित माना जाता है। मगर मेघालय के आदिवासी समाज में ऐसा अक्सर देखने को मिलता है कि पुरुष किसी दूसरी स्त्री के साथ रहने लगते हैं और बच्चों की जिम्मेदारी मां संभालती है। अगर मां की मौत हो जाती है तो बच्चे को रिश्तेदार पालते हैं।

बच्चों ने खुद को अच्छे से नए माहौल के मुताबिक ढाल लिया है

जब बच्चे मेघालय छोड़ रहे होते हैं तो न तो उन्हें और न ही उनके मां-बाप को ये पता होता है कि उन्हें आखिरकार कहां ले जाया जाएगा। कमजोर आर्थिक हालत और स्कूलों में सुविधाओं के अभाव के चलते मां-बाप का बच्चों से सीधा संपर्क नहीं हो पाता। संघ मां-बाप को बताता है कि उनके बच्चे खुश हैं और नए माहौल में काफी अच्छी तरह से ढल गए हैं। मगर हकीकत कुछ और ही होती है। विद्या निकेतन में छठवीं का छात्र रापलांग्की ढकार इंतजार कर रहा है कि उसके चाचा आएंगे और उसे घर ले जाएंगे। वह कहता है, 'हम तभी वापस जा सकते हैं जब हमारे घर से लोग यहां आएं और हमें अपने साथ ले जाएं। हर साल जब पढ़ाई खत्म होती है तो हम सुनते हैं कि हमें वापस ले जाया जाएगा। मगर दो साल हो गए हैं।'

तहलका जिन बच्चों से मिला उनमें से सिर्फ दो ही ऐसे थे जिन्हें घर लौटने का मौका मिला था। रापलांग्की के कस्बे रालिआंग में जब तहलका ने उसके चाचा से पूछा कि वे अपने भतीजे को लेने क्यों नहीं गए तो वे हैरान हो गए। उनका कहना था, 'मुझे तो इसमें जरा भी शंका नहीं थी कि मेरा भतीजा अच्छी तरह से वहां रम गया है। जोवाई में संघ की हर बैठक में हमें आश्वस्त किया जाता है कि बच्चे खुश और स्वस्थ हैं।'

बच्चों और उनके अभिभावकों के बीच सीधा संपर्क यानी फोन कॉल अभिभावकों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। अगर मां-बाप बच्चे की पढ़ाई का खर्चा उठाने में असमर्थ हों तो बच्चों को मठों द्वारा चलाए जा रहे ऐसे स्कूलों में रखा जाता है जिनकी तुलना किसी अनाथाश्रम से की जा सकती है। यहां फोन की कोई सुविधा नहीं होती जैसा कि श्री आदिचुंचनगिरी मठ द्वारा संचालित हॉस्टल में देखने को मिलता है।

मगर संघ को इससे कोई मतलब नहीं। उसके लिए यह सब एक बड़े उद्देश्य के लिए चलाई जा रही प्रक्रिया का हिस्सा है। एक ऐसी प्रक्रिया जो न सिर्फ बच्चों के लिए शारीरिक और मानसिक यातना पैदा कर रही है बल्कि मेघालय की एक पीढ़ी को उसकी मूल संस्कृति से दूर भी ले जा रही है।

सावरकर के स्वयंभू वारिस !

■ सुभाष गाताडे

संघ-भाजपा के नकली सावरकर प्रेम का नए सिरे से खुलासा सूबा महाराष्ट्र के आसन्न विधानसभा चुनावों के ऐन पहले होगा, इसकी उम्मीद शायद ही किसी ने की होगी। मालूम हो कि मराठी जनता के एक हिस्से में सावरकर के प्रति व्याप्त आदर को देखते हुए लोकसभा में भाजपा की तरफ से पिछले दिनों यह मांग रखी गयी कि फ्रांस के मशहूर शहर मार्साय में उनके नाम से स्मारक बनाया जाए। वे सभी जो सावरकर के जीवन से परिचित हैं वह बता सकते हैं कि फ्रांस का यही वह चर्चित स्थान है जहां ब्रिटिश हिरासत से भागने के लिए सावरकर ने समुद्र में छलांग लगायी थी और बाद में पकड़े गए थे।

लोकसभा में पार्टी के सांसद गोपीनाथ मुण्डे ने सावरकर शताब्दी वर्ष को देखते हुए यह मुद्दा उठाया और कहा कि सावरकर का स्मारक बनाने की मांग स्थानीय मेयर ने स्वीकार करने का पत्र भेजा है और भारत सरकार को चाहिए कि वह इस मसले को फ्रांसीसी सरकार के साथ उठाए। विपक्ष के नेता आडवाणी और उपनेता सुषमा स्वराज्य ने झट से इस मांग का समर्थन किया और सरकार को यह उलाहना भी दी कि वह विचारधारा के नाम पर 'स्वतंत्रता सेनानियों' को बांट रही है।

इस मसले पर गरमागरम चली बहस में न सत्ता पक्ष और न ही तमतमायी भाजपा का ध्यान एक छोटी सी बात पर गया जिसकी तरफ 'स्वातंत्रयवीर सावरकर सेवा केन्द्र' ने इशारा किया है। दरअसल ऐसा पत्र अवश्य आया था जिसे मार्साय के मेयर जीन क्लॉड ने ही भेज दिया था, यह जुदा बात है कि वह आज से ठीक ग्यारह साल पहले अर्थात् 8 जुलाई 1998 को ही यहां पहुंचा था; जिन दिनों अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री के पद पर विराजमान थे। उन दिनों प्रधानमंत्री कार्यालय ने इसे विदेश मंत्रालय का मामला बताकर टाल दिया था और विदेश मंत्रालय ने इस पर कोई कदम उठाना मुनासिब नहीं समझा था।

(भास्कर, 9 जुलाई 2009)

वैसे यह तो सभी जानते हैं कि यह कोई पहला मौका नहीं है जबकि संघ-भाजपा ने अपने आप को सावरकर का सच्चा अनुयायी या वारिस घोषित करने की कोशिश की हो। लोगों को याद होगा कि केन्द्र में भाजपा की अगुआई वाली गठबन्धन की हुकूमत के दिनों में भी यह मुद्दा जेरेबहस था, जिन दिनों संसद में सावरकर की प्रतिमा के अनावरण को लेकर विवाद गरमाया था। केन्द्र की सत्ता से बेदखली के बाद अंडमान जेल में लगी उनके नाम की पट्टिका हटाने को लेकर भी काफी हंगामा हुआ था।

हालांकि इस तथ्य को बहुत कम लोग जानते हैं कि सावरकर के बारे में उभरा संघ-भाजपा का प्रेम बहुत हाल की बात है और वह सियासी कारणों से उभरा है। अगर ऐसा नहीं होता तो 1998 के पहले पांच साल जब वह सूबा महाराष्ट्र में शिवसेना के साथ सत्ता में साझेदार थी, उन दिनों सावरकर की एक अदद तस्वीर विधानसभा में लगवा सकती थी, लेकिन इतना भी काम उसने नहीं किया।

संघ-सावरकर के अन्तर्सम्बन्ध को लेकर बहुत मारक टिप्पणी हिन्दू महासभा के नेता और सावरकर के भतीजे विक्रम सावरकर ने उन दिनों पेश की थी जब संघ-भाजपा ने बहुत बढ़-चढ़ कर अपने आप को सावरकर के सच्चे मुरीद के तौर पर पेश करना शुरू किया था और यह वक्त् था महाराष्ट्र विधानसभा के पिछले चुनावों का (2004) उनके मुताबिक उन्हें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि 'सावरकर में भाजपा की रुचि नहीं है'। उनके मुताबिक 'हम अच्छी तरह जानते हैं कि भाजपा और संघ ने सावरकर के दर्शन को कभी पसन्द नहीं किया।'' उपरोक्त रिपोर्ट के मुताबिक विक्रम सावरकर का यह भी कहना था कि, ''सावरकर के प्रति भाजपा का अचानक उमड़ा प्रेम एक फरेब है। वह दरअसल महाराष्ट्र विधानसभा के चुनावों में मतदाताओं को लुभाने की चाल है।'' *(सावरकर नेफ्यू हिट्स आउट एट बीजेपी, इण्डियन एक्स्प्रेस, 30 अगस्त 2004)*

अगर आप संघ या हिन्दू महासभा के इतिहास पर या सावरकर-हेडगेवार-गोलवलकर की जीवनियों पर भी नज़र डालेंगे तो पाएंगे कि संघ के नेताओं की सावरकर से यह दूरी उन्हीं दिनों की पैदाइश है जब औपनिवेशिक काल में दोनों की ओर से एक ही तबके को अर्थात हिन्दुओं को अपने पक्ष में करने की कोशिशें चल रही थी। इतिहास इस बात का गवाह है कि सावरकर चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उनके राजनीतिक संगठन हिन्दू महासभा की युवा शाखा बन जाये, लेकिन हेडगेवार-गोलवलकर ने इस बात से इन्कार किया था; जिसकी वजह से सावरकर ने 'रामसेना' का निर्माण किया था।

गोलवलकर तथा सावरकर के आपसी सम्बन्ध किस हद तक बाद में भी असहज थे, इसका अन्दाजा 1958 में गोलवलकर के दिये एक वक्तव्य से भी लगता है, जो श्री गुरुजी समग्र शीर्षक से संकलित रचनाओं के खंड 10 में 'हिन्दू महासभा का असमवायी दृष्टिकोण' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है (पेज 258)। अम्बाला में आयोजित भारतीय जनसंघ के अधिवेशन में स्वागत समिति का सभापतित्व स्वीकारने पर जब हिन्दू महासभा के पुराने कार्यकर्ता कैप्टन केशवचंद्र को हिन्दू महासभा से निष्कासित किया गया था, उस पर प्रतिक्रिया देते हुए गोलवलकर ने लिखा है कि यह 'लोगों की एकता को छिन्न-विछिन्न करने वाले रोग, राजनीतिक निषेधता एवं राजनीतिक अस्पृश्यता का एक और प्रसंग है।' उन्होंने आगे जोड़ा था 'यह अप्रजातांत्रिक भी है। इसमें से भी राजतंत्रीय निरंकुशता अथवा हृदयविहीन दलीय तानाशाही की दुर्गंध आती है। यह पूर्णतः अहिंदू दृष्टिकोण है।'

संघ तथा सावरकर के आपसी रिश्तों में सब कुछ कत्तई सामान्य नहीं था, इसका अन्दाज़ा 'श्री गुरुजी समग्र' शीर्षक से संघ परिवार द्वारा प्रकाशित गोलवलकर की चुनी हुई रचनाओं से भी लगता है, जिसमें वे संघ शिक्षा वर्ग के वार्षिक आयोजन के अपने भाषण में सावरकर को श्रद्धांजलि देने की औपचारिकता भी नहीं निभाते। (श्री गुरुजी समग्र, सुरुचि प्रकाशन, युगाब्द 5106) सावरकर के बारे में प्रदर्शित किये जाते रहे इस सुविधाजनक मौन की ही निशानी है कि संघ से जुड़े प्रकाशनों द्वारा प्रकाशित गोलवलकर की जीवनियां तक सावरकर के बारे में लगभग मौन रहती हैं। चन्द्रशेखर परमानन्द भिशीकर, जिनके द्वारा लिखी हेडगेवार की जीवनी भी आधिकारिक मानी जाती है, वह भी 'नवयुग प्रवर्तक श्री गुरुजी' शीर्षक गोलवलकर की जीवनी (लोकहित प्रकाशन, 2003, लखनऊ) में गांधी हत्या के आरोप में गोलवलकर-सावरकर आदि की हुई गिरफ्तारियां जैसे प्रसंगों के सिलसिले में सावरकर के सन्दर्भ को हटा ही देते हैं।

वैसे सावरकर के इन स्वयंभू वारिसों को अगर यह पता चले कि सावरकर ने जीते जी इन सबके आका हेडगेवार-गोलवलकर और उनकी लम्बी चौड़ी स्वयंसेवक मण्डली को उनकी कायरता, बुजदिली और अकर्मण्यता के लिये किस तरह बार-बार लताड़ा था, और संघ के नेताओं ने उन्हें क्या कहा था तो निश्चित तौर पर वह चकरा जाएंगे। उदाहरण के तौर पर, सावरकर ने कहा था ''संघ के स्वयंसेवक का मृत्युलेख होगा, वह पैदा हुआ, वह संघ में शामिल हुआ और कुछ हासिल किये बिना मर गया। (डी. वी. केलकर, ''द आर एस एस'' इकोनोमिक वीकली, 4 फरवरी 1950 : 132) निश्चित ही गोलवलकर तथा हिन्दुत्व के अन्य तमाम नेताओं ने उसी सुर में सावरकर पर भी जवाबी हमले किये थे। संघ के दूसरे सुप्रीमो गोलवलकर ने तो सावरकर के विचारों के लिए उन्हें कभी 'भेष बदले हुए मुसलमान' के तौर पर भी सम्बोधित किया था।

वैसे आज नहीं तो कल 'परिवारजन' जब अपने अतीत पर बेबाकी से मंथन करेंगे तो उन्हें न केवल इस सवाल से जूझना पड़ेगा कि आज़ादी के आन्दोलन के दौरान संघ को उससे दूर रखने के हेडगेवार-गोलवलकर के फैसले के बारे में वह क्या सोचते हैं ? आज़ाद हिन्दोस्तां को एक नया संविधान प्रदान करने की कोशिशों का विरोध करते हुए 'मनुस्मृति' को ही संविधान पर लागू किया जाये, इस किस्म के गोलवलकर के प्रस्ताव के बारे में वह क्या राय बनाते हैं।

लेकिन फौरी तौर पर उन्हें इस सवाल का जवाब देना होगा कि उनके नये आराध्य सावरकर ने 1942 में, जबकि समूचे हिन्दोस्तां की अवाम बर्तानवी हुक्मरानों के खिलाफ खड़ी थी, उन दिनों ब्रिटिश फौज में हिन्दुओं को भर्ती करने की जो मुहिम चलायी थी, क्या वह उचित थी। और सबसे बढ़ कर जिस मुस्लिम लीग के खिलाफ रात दिन सावरकर जहर उगलते रहे, उसी के साथ 40 के दशक की शुरुआत में बंगाल में 'हिन्दू महासभा' की साझा सरकार चलाने में भी उन्हें किसी तरह के द्वंद से गुजरना नहीं पड़ा था।

तिअनानमेन चौक, नन्दीग्राम और एक मक़्तूल सपना

■ अपूर्वानंद

कभी फैज अहमद फैज ने 'सीजर डेड इज मोर पावरफुल दैन सीजर अलाइव' की तर्ज पर पैट्रीस लुमुम्बा के बारे में कहा था कि 'एक मक़्तूल लुमुम्बा जिंदा लुमुम्बा से ज्यादा ताकतवर होता है'। और एक मक़्तूल सपना? या वह सपना देखने वाली जबरन सुला दी गई अनगिनत आँखें? उस ख़्वाब के बारे में क्या कहिएगा फैज साहब, जिसका कत्ल करने के लिए उसे देखने वालों को ही टैंकों तले रौंद दिया गया हो? तिअनानमेन चौक पर आज से बीस बरस पहले जिस ख्वाब का कत्ल हुआ था, जिन ख्वाबीदा आँखों की रोशनी हमेशा के लिए बुझा दी गई, वह सपना कितना ताकतवर है यह अभी दुनिया को देखना बाकी है। अभी तो दुनिया ने उसकी एक बानगी भर देखी थीः तिअनानमेन का खून अभी सूखा भी न था कि समाजवाद के नाम पर फहरा रहा परचम क्रॉन्श्टाड्ट के नाविकों से लेकर हंगरी 1956, चेकोस्लोवाकिया 1968 और न जाने कितने गुज़िश्ता तिअनानमेनों के खून से लथपथ परचम यकायक नोंच कर नीचे उतार दिया गया। जिनके दिमागों पर ताले लगे हैं वे कितना ही चिल्ला-चिल्ला के कहते रहें, यह किसी साम्रज्यावादी की साजिश का नहीं, गुजरे दिनों के प्रेतों का कारनामा था जो खुद शासकों के ज़मीर में इस तरह जम कर बैठे थे कि वहाँ भी, अचानक किसी गोर्बाचोव का पैदा होना लाज़मी था जो ऐलानिया तौर पर यह कहने का माद्दा रखता कि बिना जम्हूरियत के समाजवाद हो ही नहीं सकता। और जैसे ही जम्हूरियत की तरफ़ कदम बढ़ाते हुए उसने ज़रा सा ढक्कन हटाया, वैसे ही जमाने से धधकता लावा फट कर सामने आ गया। एकबारगी ताश के महल की तरह वह पूरा का पूरा निजाम ही ढहा के ले गया।

4 जून 1989 को जब 'इंटरनेशनल' की धुन और तरन्नुम को टैंकों की गड़गड़ाहट के नीचे दबा दिया गया था तब एक बार फिर यह बात साफ हो गई थी कि इस निजाम में और इस व्यवस्था में कोई इसलाह, कोई सुधार मुमकिन ही नहीं है। यकीन न हो तो मरिचझाँपी से नन्दीग्राम तक एक बार नज़र डालिए एक ही किस्सा, एक ही कहानी सुनने को मिलेगी बार बार, लगातार। स्टालिन या पॉल पॉट कोई अपवाद नहीं थे। और न ही वे समाजवाद या साम्यवाद का निर्माण कर रहे थे। बीसवीं सदी का यह ऐतिहासिक तजुर्बा क्या था इस पर अभी काफी शोध और विचार विमर्श होना बाकी है। फिलहाल बस इतना कहा जा सकता है कि समाजवाद या साम्यवाद का सपना अगर कहीं ज़िंदा रहा तो इस कम्युनिस्ट नामधारी धारा से बहुत दूर। वह आज भी ज़िंदा है इसके कई सबूत आपको आज भी चीन ही में मिल जाएँगे। लातिन अमरीका में नए वामपंथ के उभारों में भी उसकी एक बानगी देखने को मिल सकती है।

नन्दीग्राम के बाद भी हमारे मुल्क का पार्टीगत वामपंथी बुद्धिजीवी किसी भी कीमत पर कुछ सोचने की ज़हमत तो उठाना गवारा कर ही नहीं सकता, उससे यह भी पता चलता है कि जिनके दिमागों पर पड़े ताले तिअनानमेन के बाद न खुल सके वह नन्दीग्राम के बाद क्या खुलेंगे? आज भी पार्टी के गुलाम इन बुद्धिजीवियों के पास 'फोर्ड फाउंडेशन' और 'अमरीकी साम्राज्यवाद' जैसे थके हुए तर्कों के सिवा अपनी हार की व्याख्या के तौर पर कहने के लिए कुछ नहीं है। जनता से वे और उनकी पार्टी जितना पिटती है, उतना ही तीखे स्वर में वह 'साम्राज्यवादी साजिश' का रोना रोने लगते हैं।

जिस जमाने में तिअनानमेन की घटना घट रही थी मैं

माकपा में बतौर 'होलटाइमर' काम किया करता था। मेरी ज़िम्मेदारी ट्रेड यूनियनों और पूर्वी दिल्ली के इलाकों में काम की थी। छात्र आन्दोलन से निकले होने के कारण आमतौर पर पार्टी के इर्द-गिर्द के बुद्धिजीवियों से अच्छा खासा सम्बन्ध ा था। इन बुद्धिजीवियों में उन दिनों असाधारण बेचैनी

दिखाई देती थी। चीन और तिअनानमेन के बारे में उनके अनगिनत सवाल थे। यह इत्तफ़ाक नहीं है कि उनमें से अधिकांश बाद में पार्टी छोड़ गए मगर वामपंथी बने रहे। जो रह गए वे कुन्द ज़हन लोग थे जिनके हाथ में बाद के वक़्त में पार्टी-धर्म बनाए रखने की ज़िम्मेदारी आई। इन लोगों के ज़हन में न तब कोई सवाल थे, न आज हैं। लकीर के फकीर।

खैर, बात उन्हीं दिनों की है। मुझे बताया गया कि पार्टी ने एक ज़रूरी 'जीबी' मीटिंग रखी है और सबका उसमें शामिल होना अनिवार्य है। चीन के मसले पर ब्रीफिंग है। तो हम गए 'जीबी' मीटिंग में। इन दिनों जो सज्जन महासचिव हैं उन दिनों दिल्ली राज्य कमेटी के सचिव हुआ करते थे। मीटिंग में व दहाड़े: 'हमारे बुद्धिजीवी कॉमरेड एक खतरनाक भटकाव का शिकार हो रहे हैं। चीन के मसले ने उन्हें ऐसे झकझोर दिया है कि वे अपने क्रान्तिकारी नज़रिये से भटक गए हैं। कॉमरेड्स, यह पेटी बुर्जुआ भटकाव है जिसका डट कर मुकाबला करना होगा।' हम हैरान थे। लेकिन महासचिव का भाषण जारी था: 'हमारे मज़दूर साथियों में भटकाव नहीं है, क्योंकि वे वर्ग-चेतना से लैस हैं।' अब मुझसे हंसी रोकी न गई। यह शख़्स जिसने ज़िन्दगी में कभी कोई हाड़ मांस का मज़दूर नहीं देखा वह मज़दूर वर्ग की वर्ग चेतना की दुहाई दे रहा है? इतने साल ट्रेड यूनियन में काम करते हुए मैंने जो वर्ग चेतना नहीं देखी वे इन्होंने अपनी गैबी शक्ति से देख ली! मैं जिन मजदूरों के साथ रोज़ उठता बैठता था चीन उनकी चेतना और सरोकारों से बहुत दूर था। एक बार फ़कत एक बार दो तीन नेता क़िस्म

के मज़दूरों ने चीन का सवाल उठाया था। और तब, जिज्ञासा के स्वर में उन्होंने जो पूछा था (मुझे पार्टी का नुमाइंदा मानते हुए), वह हू-ब-हू वही सवाल था जो भटके हुए बुद्धिजिवियों को उद्वेलित कर रहा था : "कॉमरेड, यह चीन में क्या हो रहा है? यह तो समाजवादी सरकार का काम नहीं है।"

आज जब पूरे हालात के बारे में सोचता हूँ तो एक ही बात समझ आती है : जो तमाम कुंद ज़हन, कायर लोग तब न बोल सके, उनकी नियति यही है कि वे, ताउम्र पार्टी नेताओं की गुलामी करें और उनके सामने पापोश की तरह बिछे रहें। अवाम से अब इनका कोई सरोकार नहीं रह गया है। एक बात और: गुलामी किसी अमूर्त 'पार्टी' की नहीं होती, होती है तो सिर्फ पार्टी नेताओं की गुलामी।

बजट प्रस्तुति का स्त्री पक्ष : स्टीरियो टाइप छवि को मज़बूत करती कवायद?

■ अंजलि सिन्हा

वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी द्वारा पेश बजट के इर्द-गिर्द चर्चा इन दिनों सुर्खियों में है। भाषण के दौरान वित्तमंत्री द्वारा ली गयी चुटकियां तथा खबरचियों द्वारा पेश ख़बरों से स्त्री और पुरुष के लिए बनायी गयी छवि तथा उसके लिए समाज में पहले से मौजूद स्थान की झलक आप स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। गौर से देखेंगे तो आप पाएंगे कि हंसी-मज़ाक एवं ठिठोली में 'पैकेज' की गयी ये ख़बरें पहले से निर्मित छवियों को और मजबूती प्रदान करती दिखती हैं।

आज 21वीं सदी में भी जब महिलाएं अपनी स्थिति बदलने के लिए संघर्षरत हैं, समाज में भी परिवर्तन के लिए अन्य प्रगतिशील ताकतें प्रयासरत हैं, दबाव में या दिखाने के लिए ही सही सरकारों तथा प्रशासन को भी स्त्री समस्या तथा जेण्डर भेद खत्म करने की बातें करनी पड़ती हैं और कुछ काम हाथ में भी लेने पड़ते हैं, ऐसे समय में भी जनप्रतिनिधियों को तथा पिछड़ी मानसिकता के ख़बरचियों को औरत के लिए घिसी-पिटी छवि का इजहार करने से परहेज नहीं होता है। मिसाल के तौर पर इस बजटीय सत्र की कुछ ख़बरों पर ध्यान दें, 'साड़ी महंगी होने से महिलाएं नाराज हुईं'। बजट में सूती कपड़ों के महंगे होने की बात हुई जो सभी को प्रभावित करेगा। सिर्फ किसी एक महिला से पूछ कर ऐसी ख़बर देने का तात्पर्य है कि वे सिर्फ साड़ी से सरोकार रखती हैं। दूसरा शीर्षक था 'सोना चांदी के सीमा शुल्क बढ़ाने से महिलाएं अप्रसन्न।' तीसरा शीर्षक था कि 'ब्राण्डेड आभूषणों के उत्पाद शुल्क में छूट देने से महिलाओं का निखार बढ़ेगा।'

वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी को इस मसले पर महिला समुदाय को केन्द्रित कर मज़ाक करने में संकोच भी नहीं लगा और पूरे सदन ने उनके इस 'हास्यबोध' में सुर मिलाते हुए ठहाका लगाया। उन्होंने कहा कि 'सोना चांदी के सीमा शुल्क बढ़ाने से महिलाओं के बीच उनकी लोकप्रियता कम हो सकती है, इसीलिए ब्राण्डेड कम्पनी के आभूषणों के उत्पाद शुल्क घटा कर वे इस कमी को पूरा करने की कोशिश कर रहे हैं।' क्या वित्तमंत्री की निगाह में महिलाओं की खुशी-गम सिर्फ आभूषणों में होती है या कपड़ों में सिमटी रहती है और वे इसी माध्यम से अपनी लोकप्रियता बढ़ाना चाहते हैं, मानो गोपियों के बीच कृष्ण बनने की हसरत अभी वे पाले हुए हों।

एक अन्य अख़बार ने अलग-अलग तबकों को बजट में क्या मिला इसकी ख़बर देते हुए चन्द बॉक्स दिए थे। एक बॉक्स में था 'लड़की को मनपसन्द सैण्डिल पहनने की मुराद पूरी होगी।' और 'खाद्य तेल सस्ता होने से माताजी की बल्ले-बल्ले होगी।' दूसरी तरफ जब कृषि क्षेत्र की बात चली तो किसानों को अर्थात पुरुषों से बात की गयी। यही बात उद्योग जगत के सन्दर्भ में थी और व्यापार के बारे में भी सारी प्रतिक्रियायें पुरुषों से ली गयी थीं। कहने का

तात्पर्य यह था कि अख़बार के लिए कृषि, उद्योग एवं व्यापार जैसे विशाल क्षेत्र से महिलाएं बिल्कुल बाहर थीं। निश्चित ही यह बात सच्चाई से परे थी।

ऐसी बात नहीं है कि ऐसी घिसी-पिटी बातें पहली बार हो रही थीं। इसके पहले भी जब रसोई गैस, मिट्टी के तेल या खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ाने की बात होती थी तो तुरन्त महिलाओं के लिए मुसीबत की बात की जाती मानो रसोई सिर्फ उनका सरोकार हो, या उसका फायदा सिर्फ वही उठाती हों। निश्चित ही जहां रसोई में काम करने की बात है तो उन्हीं का प्रमुख सरोकार दिखता है, लेकिन जहां तक रसोई घर के उत्पादों के उपभोग की बात होती हो तब उपभोग की अगुआ वे नहीं होती।

पिछले कुछ समय से जेण्डर बजट की चर्चा भी होती रही है। कई लोग जेण्डर बजट का मतलब महिलाओं को प्रभावित करने वाले वस्तुओं के दाम में रियायत से लगा लेते हैं जबकि यह जेण्डर आधारित भेदभाव को खतम करने के लिए कार्यक्रमों में वित्तीय व्यवस्था का प्रबन्धन तथा नारी शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ होने वाले कार्यक्रमों के लिए बजटीय प्रावधानों से है।

मालूम हो कि स्त्रियों की स्टीरियोटाइप छवि को मजबूत करने वाली बातें सिर्फ वित्तीय बजट पेश करने के दौरान ही सामने नहीं आतीं। रेल बजट भी जब ममता बनर्जी ने पेश किया तो इस बजट को भी महिलाओं के हितैषी होने का बजट इस आधार पर कहा गया कि उन्होंने कुछ ट्रेनें सिर्फ महिलाओं के लिए चलाने की घोषणा कीं। यह अलग बात है कि ऐसे इन्तज़ाम सीमित मार्गों पर ही किए जा रहे हैं। दिल्ली से 150 किलोमीटर दूर तक दौड़ायी जा सकने वाली ऐसी 'लेडीज स्पेशल' उन महिलाओं के लिए तो सुखद होगी जिन्हें अपने दैनंदिन काम के लिए राजधानी आना पड़ता है, लेकिन कामकाजी महिलायें सिर्फ दिल्ली में ही काम करने नहीं आती हैं। संख्या यहां जरूर अधिक हो सकती है किन्तु सुरक्षा तो उन्हें भी चाहिए जो गांव या छोटे शहरों में रहती हैं या जो रोज नहीं कभी-कभार सफर करती हैं। जहां सार्वजनिक दायरे में औरतें अधिक संख्या में उपस्थित नहीं हैं वहां भी ऐसी सुविधायें दी जानी चाहिए जिससे सार्वजनिक दायरे में उनके प्रवेश के लिए प्रोत्साहन मिले, सुरक्षा की गारण्टी का एहसास हो।

पूरे सफर को सभी ट्रेनों में सुरक्षित बनाये जाने के लिए ठोस कदम तथा बजट आबंटन न करे इस तरह सुरक्षा प्रदान करना कुछ ऐसी ही बात है कि पूरा घर भले सुरक्षित न हो लेकिन घर में कोई कोना ऐसा हो जहां औरत अपने आप को सुरक्षित महसूस करे। यदि पूरे सफर को सुरक्षित बनाने को प्राथमिकता में लेने के बाद कुछ ट्रेनें अलग-अलग जगहों से चलायी जातीं तो इसे च्वॉइस या विकल्प के रूप में देखा जा सकता था।

विचारणीय मुद्दा यह है कि एक तरफ जनप्रतिनिधि तथा मीडिया दोनों स्त्री के लिए स्टीरियोटाइप/घिसी-पिटी छवि रखते हैं तथा वैसा ही लोगों के सामने परोसते हैं क्योंकि वे भी इस पुरुष-प्रधान समाज की ही पैदाइश हैं। लेकिन वे जो भी विचार महिलाओं के सन्दर्भ में पेश करते हैं उससे वापस उसी मानसिकता को मजबूती मिलती है जो औरत के लिए वही स्टीरिओटाइप छवि गढ़ता है।

(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन की कार्यकर्ता हैं तथा सत्यवती कालेज (सांध्य) में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)

जे पी आन्दोलन की भूल

■ अपूर्वानंद

नीतीश कुमार आलोचना से परे हैं। इतिहासकार, राजनीतिशास्त्री, समाजवैज्ञानिक या पत्रकार, अभी सब नीतीश जी के गुणगान में व्यस्त हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं हुआ जब जे.पी. आन्दोलन से जुड़े लोगों के लिए बिहार के मुख्यमंत्री ने पेंशन की घोषणा की, तो कहीं से आलोचना का कोई स्वर नहीं सुनाई पड़ा, एक जनसत्ता की सम्पादकीय टिप्पणी को छोड़कर. खबरों में यह बताया गया था कि कांग्रेस विरोधी उस आंदोलन में जो जेल गए या घायल हुए, उन्हें पेंशन दी जाएगी। जनसत्ता ने ठीक ही यह प्रश्न किया कि क्या जयप्रकाश के नेतृत्व वाले उस आन्दोलन को भारत के स्वाधीनता आंदोलन के समतुल्य माना जा सकता है। यह सवाल भी अपनी जगह ठीक था कि अगर बिहार अर्थ-संकट से जूझ रहा है, तो इस बेतुकी योजना के लिए पैसे कहां से निकल आए!

जे. पी. आन्दोलनकारियों के लिए पेंशन की इस योजना का लाभ किस एक दल या संगठन के लोगों को सबसे ज़्यादा मिलेगा, अंदाज़ करना कठिन नहीं है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या तत्कालीन जनसंघ और अब भारतीय जनता पार्टी के सदस्य इस आंदोलन में बड़ी संख्या में थे। बल्कि यह आंदोलन पहला ऐसा बड़ा मौका था, जिसने आर.एस.एस. और जनसंघ को राजनीतिक मान्यता दिलाने का काम किया। जयप्रकाश आर.एस.एस. के खतरनाक स्वभाव से परिचित न रहे हों, यह आरोप उन पर नहीं लगाया जा सकता। फिर भी कांग्रेस विरोध की राजनीति के कारण जयप्रकाश जी को आर.एस.एस. के साथ काम करने में हिचक नहीं हुई। 1974 के पहले 1967 वह बिंदु है, जिसे आर.एस.एस. को राजनैतिक वैधता दिलाने के सन्दर्भ में याद रखना चाहिए। कांग्रेस विरोध के प्लेटफार्म पर समाजवादियों और वामपंथियों को जनसंघ के साथ आने में कोई परेशानी नहीं हुई थी। तात्कालिक राजनीतिक यथार्थ और बाध्यताओं की दुहाई दी जा सकती है और इस तरह के गठजोड़ के पक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं। लेकिन क्या हम यह मान लें कि जनसंघ को राजनीतिक और आर.एस.एस. को सामाजिक वैधता दिलाने का परिणाम भारत को आगे जा कर भुगतना था, इसकी कल्पना करने की क्षमता जयप्रकाश जी में नहीं थी! अभी इस आन्दोलन की सम्यक समीक्षा होना बाकी है, लकिन मैं 2003 के दिसम्बर महीने में एक साथ तीन राज्यों में भारतीय जनता पार्टी की जीत के बाद रांची के अपने मित्र, जे.पी. आन्दोलन के पहले दौर के कार्यकर्ता, पत्रकार फैसल अनुराग की बात भूल नहीं पाता हूँ। उन्होंने बड़ी तकलीफ के साथ कहा कि मैं अब सार्वजनिक रूप से यह कहने को तैयार हूँ की जे.पी. आंदोलन एक बहुत बड़ी भूल का शिकार था।

बांग्लादेश के गठन के बाद आर.एस.एस. को लगने लगा था कि वह पूरी तरह अप्रासंगिक होता जा रहा है। पाकिस्तान को तोड़ देने का काम इंदिरा गांधी ने कर दिया था। फिर जिस पाकिस्तान विरोधी मानसिकता को मुस्लिम विरोध के साथ मिला कर वह जीवित था, उसकी जड़ उखड़ जाने का खतरा सामने था। महंगाई, भ्रष्टाचार के कारण जनता के असंतोष को इस्तेमाल करते हुए एक ऐसा माहौल बनाया जा सकता था जिसमें आर.एस.एस. के वापस सामाजिक जीवन में लौटने की सम्भावना थी। इस आंदोलन की शुरुआत को ध्यान से देखने वालों को याद है कि जयप्रकाश जी ने इसकी शुरुआत नहीं की थी। वे भी खुद को राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक

महसूस कर रहे थे और उन्हें इसका पूरी तरह से यकीन नहीं था कि उनकी बात का कोई असर होगा। यह विश्वास उन्हें आर.एस.एस. के लोगों ने दिलाया। इस बात की जांच होना बाकी है कि क्या जयप्रकाश जी इस वजह से आन्दोलन का नेतृत्व करने को तैयार हुए कि आर.एस.एस. के रूप में उन्हें कम-से-कम एक बड़ी संगठित शक्ति के साथ की आश्वस्ति हुई! पचरूखी जेल में रह कर कवि नागार्जुन ने जे.पी. आन्दोलन का चरित्र समझ लिया और उससे अलग हो गए। यह चरित्र इस आन्दोलन पर आर.एस.एस. के प्रभाव से तय हो रहा था।

इसकी परिणति आगे चल कर जनता पार्टी के निर्माण में होनी थी, जनसंघ जिसका एक घटक बन गया। आर.एस.एस. को भारतीय राज्य के ढांचे में घुसने का यह पहला अवसर था। उसने इसका ठिकाने से इस्तेमाल किया, यह लिख-बोल कर नहीं, लेकिन अनौपचारिक बातचीत में पुराने जयप्रकाशी स्वीकार करते हैं। यह सब लिखने का मतलब यह नहीं है कि इंदिरा गांधी के आपातकाल के निर्णय को सही ठहराया जाए लेकिन क्या हम यह कह सकते हैं कि जयप्रकाश जी जब सेना को राज्य से असहयोग करने को कह रहे थे, तो वे भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी ताकत, यानी अराजनैतिक सेना का राजनीतिकरण करके लोकतंत्र को मदद पहुंचा रहे थे! वह भी तब जब बगल के देशों में राज्य के मामलों में सेना की दिलचस्पी के नतीजे हमारे सामने थे। सेना को राजनीति में शामिल होने की दावत देना एक तरह से भारतीय राज्य के बुनियादी सिद्धांत, यानी सेना और राजकीय मामलों के अलगाव पर ही आघात था। इसकी गंभीरता पर भी अभी ठीक से विचार नहीं किया गया था। क्या जयप्रकाश जी ने सेना को असहयोग करने की यह दावत एक अराजकतावादी विचार के कारण दी थी या इस निर्णय तक पहुंचने में भी उस अर्ध-सैन्य सांस्कृतिक दल की कोई प्रेरणा थी जो भारत को एक सैन्यवादी हिन्दू राष्ट्र में बदल देना चाहता था? क्या यह सच नहीं है कि आपातकाल के घोषणा का इस आह्वान से सम्बन्ध था?

यह कोई संयोग नहीं था कि ठीक इसी के आस पास नव गठित बांग्लादेश में सेना ने मुजीबुर्रहमान की हत्या करके सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया था। सेना में प्रभुत्व आर.एस.एस. का पुराना सपना रहा है। अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार में एक दूसरे समाजवादी और जयप्रकाशी जॉर्ज फर्नांडीस के रक्षामंत्री रहते हुए सेना में वैचारिक प्रशिक्षण देने के लिए आर.एस.एस. को इजाज़त दे ही दी गयी थी।

यह कहा जाता है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इस आन्दोलन में हिस्सा न लेकर भूल की और जयप्रकाश जी के पास इसी वजह से आर.एस.एस. का साथ लेने के अलावा कोई चारा नहीं था। और सभी मामलों में गलतियां करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी कम से कम यहां अपने आंकलन में गलत नहीं थी। यह एक लोकप्रिय आन्दोलन था लेकिन इसकी दिशा वह तय नहीं कर सकती थी। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में इसे लेकर बहस थी लेकिन लोकप्रिय असंतोष को अपने हक में इस्तेमाल कर लेने की उम्मीद में वह इसमें शामिल रही। यह बंगाल से बाहर अपने क्षेत्र विस्तार की उसकी अब तक चली आ रही कामना का ही परिणाम था जिसके चलते वह धर्मनिरपेक्षता के बुनियादी सिद्धांत पर भी समझौता करने को तैयार हो गयी थी। "अगर आर.एस.एस. फासिस्ट है, तो मैं भी फासिस्ट हूं", यह घोषणा करके जयप्रकाश नारायण ने उस आंदोलन के चरित्र के बारे में हर शक को मिटाने की कोशिश की जो उनके नाम से जाने जानेवाले आंदोलन के बारे में थी। नीतीश कुमार उसी आंदोलन के सदस्य थे और जब वे नरेन्द्र मोदी की उपस्थिति में भी लुधियाना की सभा में शामिल होने को तैयार हुए तो वे भी गुजरात हत्याकांड के मुजरिम को वैसा ही चरित्र प्रमाणपत्र दे रहे थे जैसा साढ़े तीन दशक पहले उनके गुरु ने आर. एस.एस. को दिया था। कल वे इस गठबन्धन से अलग हो सकते हैं, लेकिन यह तय है वह किसी मूल्य निर्णय के तहत नहीं होगा।

वे अपनों के भी दुश्मन हैं : पुरूष सैनिकों की मानसिकता

■ अंजलि सिन्हा

अमेरिकी महिला सैनिक अपने सहकर्मी तथा अधिकारी सैनिकों द्वारा कैसे यौन उत्पीड़न की शिकार होती हैं इसका विस्तृत विवरण हाल में न्यूयॉर्क से प्रकाशित एक किताब में किया गया है। यह उन भुक्तभोगी महिला सैनिकों के साक्षात्कार के आधार पर कहा गया है। अफगानिस्तान तथा इराक में तैनात अमेरिकी महिला सैनिकों के यौन उत्पीड़न में 24 फीसदी की वृद्धि दर्ज की गयी है। इनमें से कुछ ने खुलासा किया कि वे कैसे पुरुष सैनिकों से बचने के लिये छुपाकर चाकू रखती हैं। वे किस तरह सामान्य कही जाने वाली इन स्थितियों में युद्ध से अधिक खतरा और भय इनसे महसूस करती हैं।

सैनिकों की आक्रामक और अन्यायपूर्ण प्रवृत्ति की यह कोई पहली दास्तान नहीं है और न ही सिर्फ अमेरिका की बात है। हम अपने देश की बात करें तो लगातार ऐसी घटनायें प्रकाश में आयी हैं। एक तरफ तो महिलाओं को सेना में नौकरी मिलना आसान नहीं है। यह मुख्यतः पुरुषों का क्षेत्र माना जाता है। ऐसा प्रचारित किया जाता है कि महिलायें ऐसा जोखिम भरा काम तथा कठिन परिस्थितियों और परिश्रम वाली नौकरी नहीं कर सकती हैं। लेकिन महिलाओं ने जब अपना दावा ठोकते हुए यह साबित किया कि वे इस लायक है तो वहां सबसे अधिक असुरक्षित वातावरण की मार झेलने के लिये वही अभिशप्त हैं। सेना का माहौल ऐसा होता है उसमें किसी भी सैनिक के लिये चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अपने लिए न्याय की बात उठाना आसान नहीं होता है।

यहां सेना में कार्यरत महिलाओं की स्थिति भी कोई अच्छी नहीं कही जाएगी। वर्तमान में सेनाओं में महिलाओं की संख्या कम नहीं है। कुल 4101 महिला अधिकारी फौज में है, 784 वायुसेना में तथा 252 नौसेना में महिला अधिकारी हैं।

पिछले साल की ख़बर थी जब पंचकुला के काल्का में तैनात सेना की महिला अधिकारी सुश्री पूनम कौर ने सेना के तीन पुरुष अधिकारियों पर यौन उत्पीड़न का आरोप लगाया था। उधर सेना ने इन आरोपों का खण्डन किया था और इस बात से भी इन्कार किया था कि पूनम को अपने घर में नज़रबन्द कर दिया गया था। साफ नज़र आता था कि पहले तो सेना ने पूनम की शिकायत को नज़रअन्दाज़ किया। लेकिन मीडिया में यह बात आने के बाद दबाव बना तब तत्कालीन रक्षामन्त्री ए. के. एण्टनी की ओर से जांच का आदेश दिया गया।

सेना की तरफ से कहा गया कि पूनम ने सेना के नियमों का उल्लंघन किया है इसलिये उनके खिलाफ भी जांच होगी। सेना के नियम 20 के तहत वरिष्ठ अधिकारियों की अनुमति के बिना मीडिया को कोई बयान नहीं दे सकता है। परन्तु यहां सबसे अहम बात यह थी कि पूनम को मीडिया का सहारा क्यों लेना पड़ा? कहीं ऐसा तो नहीं कि सेना ने ऐसे मैकेनिज़्म तैयार नहीं किए हों, जहां पीड़ित लोग जाकर अपनी बात कह सकें।

ऐसा नहीं था कि सेना में यौन उत्पीड़न की घटना पहली बार चर्चा में आयी थी। 2005 में एअर फोर्स की फ्लाइंग ऑफिसर अंजलि गुप्ता का उनके सीनियर द्वारा यौन शोषण का मामला सामने आया था लेकिन सेना के अपने कोर्ट ने उल्टे उसे ही सजा सुनायी। 2005 में ही लेफ्टिनेन्ट सुष्मिता चक्रवर्ती ने आत्महत्या की थी। उसने अपने घरवालों को बताया था कि वह देर रात की पार्टी में सहज महसूस नहीं करती है। कैप्टन नेहा रावत के केस का सुखद अन्त हुआ था जिसमें मेजर जनरल ए. के. लाल को दोषी पाया गया था। उस प्रेस कॉन्फ्रेंस के भी काफी चर्चे हुए थे, जिनमें मेजर जनरल की पत्नी और बेटी ने कैप्टन नेहा के आरोपों का खण्डन किया था और उसे दुष्चरित्र बताया था।

2002 में भी एक मेजर के खिलाफ आरोप लगाया गया था। 2004 में तीन मामले सामने आये थे—दो ईस्टर्न कमाण्ड से तथा एक नॉर्दर्न कमाण्ड से। अर्थात् स्पष्ट है कि शिकायतें आती हैं तो फिर उनकी सुनवाई के लिये पहले से उपाय क्यों नहीं हैं ताकि जरूरत पड़ने पर पीड़ित महिला आसानी से अपना पक्ष समिति के सामने रख सके। सेना भी समाज का ही हिस्सा है। इसी समाज से लोग वहां जाते हैं और समाज में यौन हिंसा मौजूद है तो फिर सेना में कैसे सम्भव है कि ऐसा न हो?

मालूम हो कि सभी कार्यस्थलों को महिलाओं के लिये सुरक्षित बनाये जाने की बात सुप्रीम कोर्ट द्वारा एक दशक से भी पहले ही कही गयी है। विशाखा जजमेंट नामक अपने निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने हर संस्थान में ऐसी शिकायत समितियों के गठन का निर्देश दिया था, जहां लोग अपनी गुहार लगा सकें। उसमें यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि सभी कार्यस्थलों पर - फिर उनमें हो सकता है महिलाएं कार्यरत न हो - ऐसी कमेटियां बननी चाहिए। निर्देश के मुताबिक सुरक्षा के बचावात्मक उपाय पहले से किये जाने चाहिए। सरकार ने भी इस मुद्दे की गम्भीरता के मद्देनजर नये कानून का प्रस्ताव किया है। इन दिनों ऐसे मसविदे पर ही काम हो रहा है।

क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि सेना ने अपने आप को इस ज़िम्मेदारी से अलग क्यों रखा? सुप्रीम कोर्ट ने 1997 में कहा था कि सभी कार्यस्थलों को सुरक्षित बनाये जाने की ज़िम्मेदारी सम्बन्धित विभाग या इम्प्लॉयर की होगी। इसलिये शिकायत कमेटियों का गठन किया जाना था जिसकी ज़िम्मेदारी है यौन उत्पीड़न की घटनाओं पर नजर रखना, शिकायत आने पर सुनवाई करना तथा बचावों के उपायों पर जागरूकता फैलाना। इन शिकायत कमेटियों में विभाग के बाहर के भी दो प्रतिनिधि होते हैं ताकि जांच की निष्पक्षता को सुनिश्चित किया जा सके।

सवाल है कि फौज इस जवाबदेही से क्यों बच रही है। क्या वह देश की 'सेवा' पुरुष बनकर पुरुषवादी मानसिकता में करना चाहती है? अब वे दिन लद गये जब किसी भी क्षेत्र को महिलाओं के लिये वर्जित कहा जाय। सन् 2006 में लेफ्टिनेन्ट जनरल पट्टाभिरामन ने एक वक्तव्य दिया था कि सेना को महिला अधिकारियों की जरूरत नहीं है। वे सेना में पुरुष अधिकारियों को पसन्द करेंगे। उनके इस वक्तव्य पर देशभर में प्रतिक्रिया हुई तथा यह किरकिरी देख बाद में इस वक्तव्य को वापिस लिया गया। मामला इतना बढ़ा कि तत्कालीन रक्षा मंत्री को खुद बयान देना पड़ा।

अब ऐसा न तो कोई कारण है न ही किसी का अधिकार की वह किसी समुदाय विशेष के लिये कोई क्षेत्र वर्जित करने का फरमान दे। फौज में भर्ती होना महिलाओं का अधिकार है तथा उनकी सुरक्षा की गारण्टी करना विभाग की ज़िम्मेदारी है।

(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन की कार्यकर्ती हैं तथा सत्यवती कालेज (सांध्य) में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)

संघर्ष प्रभावित इलाकों की विशेषताएं

■ मेरी बी. एण्डरसन

...पिछले अंक से जारी

संघर्षमय स्थितियों की विशेषता होती है अंतर्समूह तनाव और बंटवारा। हर कोई इसे जानता है, इसकी उम्मीद करता है और इस पर ध्यान केंद्रित भी करता है।

इससे भी ज़्यादा रोचक तथ्य यह है कि शांति स्थापित करने की दिशा में स्थानीय लोगों की क्षमताएं और युद्धरत लोगों को जोड़ने वाले समन्वयक भी संघर्षमय स्थितियों की विशेषताएं हैं। अनेक लोगों को यह अजीब लगता है। वाक़ई जब हम अनेक संघर्षमय स्थितियों से वाक़िफ़ हुए तो हमें भी यह बड़ा अजीब लगा।

जब अंतर्राष्ट्रीय सहायता कर्मचारी संघर्षरत इलाक़ों में प्रवेश करते हैं तो वे स्वाभाविक रूप से संघर्ष पर ध्यान केंद्रित करने लगते हैं। इसके पहले उन्हें परिवार के सदस्यों और मित्रों द्वारा हिदायत दी जाती रही है और अपनी सुरक्षा करने के निर्देश दिए जाते रहे हैं। जब वे पूरी तरह तैयार हो जाते हैं तब उन्हें व्यक्तिगत तनाव और सदमे से निपटने के बारे में सलाह दी जाती है। और जब वे घटना-स्थल पर पहुंचते हैं तो उन्हें हिंसा के दर्शन होते हैं क्योंकि हिंसा की अभिव्यक्तियां फ़ौरी और ताक़तवर होती हैं।

संघर्षमय स्थितियों में स्थानीय लोगों का झुकाव भी बंटवारों और तनावों पर ही केंद्रित रहता है। हिंसा का नयापन और उससे पैदा होने वाले लगातार ख़तरे उन्हें अभिभूत कर देते हैं। अगर वे सामान्य क्रियाएं (जो समन्वयकों का प्रतिनिधित्व करती हैं और जिनके बारे में हम बाद में चर्चा करेंगे) भी करते हैं तब भी संघर्ष के कारण वे हर चीज़ को ''अप्राकृतिक'' रूप में ही देखते हैं। वे अक्सर उन तरीक़ों को पहचानना भूल जाते हैं जो वे युद्ध न होने की स्थिति में करते रहते और सोचते रहते थे।

'लोकल कैपेसिटीज़ फॉर पीस प्रोजेक्ट' के माध्यम से सीखा गया सबसे महत्वपूर्ण सबक़ है शांति स्थापित करने की क्षमताओं और समन्वयकों का अस्तित्व और उनकी ताक़त।

अक़सर, अंतर्राष्ट्रीय सहायता मुहैया कराने वाले जब किसी संघर्ष प्रभावित इलाक़े में पहुंचते हैं तो वे हिंसा से इतना ज़्यादा अभिभूत हो जाते हैं कि वे शांति स्थापित करने की क्षमताओं को पहचानना भूल जाते हैं। हिंसा, ख़तरा, और घृणा की अभिव्यक्ति जैसे तेज़तर्रार और दबाव पैदा करने वाले शब्दों को एकमात्र हक़ीक़त स्वीकार कर लिया जाता है। परिणामस्वरूप, सहायता अक़सर समन्वयकों के सबंध और समर्थन में दिए जाने की बजाय समाज में स्थित बंटवारे के मद्देनज़र दी जाती है। इस प्रकार अनजाने में सहायता संघर्ष को बढ़ाने का काम कर सकती है और लोगों को अपने जीवन के उन पहलुओं को दोबारा ढूंढ निकालने और उन्हें मज़बूती प्रदान करने के मौके देने से चूक सकती है जो पहलू उन्हें परस्पर जोड़ते हैं।

इस अध्याय में हम शांति स्थापित करने में स्थानीय लोगों की क्षमताओं और संघर्षरत समाजों में मौजूद विभाजनों की जांच-पड़ताल कर रहे हैं। युद्ध के कारणों और उनकी अभिव्यक्तियों पर केंद्रित रहने के प्रचलित झुकाव का जवाब देने के लिए हम पहले शांति स्थापित करने में स्थानीय लोगों की क्षमताओं पर विचार कर रहे हैं।

अमन की स्थानीय क्षमताएं और समन्वयक

सांघातिक युद्ध में भी इतने लोग नहीं लड़ते जितने सामान्य युद्ध में। इसकी तुलना में ज़्यादा व्यक्ति अपने पड़ोसियों की हत्या नहीं करते हैं। युद्ध में शामिल होने के बजाय युद्ध से दूर रहने वाले समाजों की संख्या कहीं ज़्यादा है। भावी नेताओं में हिंसा न भड़का पाने वालों की संख्या उनसे कहीं ज़्यादा है जो हिंसा भड़काने में सफल रहते हैं। अधिक से अधिक लोग युद्ध के बजाय ग़ैर-युद्धीय साधनों से अपने समाज में व्याप्त अन्याय और ग़रीबी को मिटाने का प्रयास करते हैं।

आम तौर पर लोग हिंसा से बचने का कम से कम उतना तो प्रयास करते ही हैं जितना हिंसा करने और उसे जारी रखने में करते हैं। यहां तक कि आज की अशांत दुनिया में भी युद्ध से ज़्यादा शांति छाई है।

'लोकल कैपेसिटीज़ फॉर पीस' प्रोजेक्ट ने अनुभव किया कि जिन समाजों में नागरिकों के बीच छिड़े गृह युद्ध रोज़मर्रा के नमूनों को ध्वस्त कर देते हैं उन समाजों में भी जीवन के अनेक पहलू लोगों को बांटने के बजाय उन्हें परस्पर जोड़ने का ही काम करते हैं। साझा इतिहास, संस्कृति, भाषा और अनुभव, साझी संस्थाएं और मूल्य परस्पर आर्थिक एवं राजनीतिक निर्भरता और सोचने व कार्य करने की आदतें सभी समाजों का हिस्सा हैं, यहां तक कि गृह युद्ध में फंसे समाजों का भी।

इसके अलावा, सभी समाजों में मनमुटावों व तनावों को हिंसा के बिना भी निपटाने की व्यवस्थाएं मौजूद रहती हैं। अक़सर ये समाज बिचौलिए या वार्ताकार के रूप में बुजुर्गों या महिलाओं जैसे ख़ास तबक़ों को इस काम के लिए नामित करते हैं। सभी समाजों के पास हिंसा भड़कने पर उसे कम करने और ख़त्म करने की व्यवस्थाएं होती हैं, और सभी के पास ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो युद्ध के चलते अलोकप्रिय और ख़तरनाक कहलाए जाने का ख़तरा उठा कर भी शांति का गुणगान ज़ोरदार ढंग से करते हैं।

ये सभी तत्व शांति बहाल करने की स्थानीय क्षमताओं का

हिस्सा हैं। ये युद्ध से पहले ही मौजूद रहते हैं और अक़सर आम हिंसा को टालते रहते हैं। ज़ाहिर है कि वे हमेशा ही युद्ध रोकने में सक्षम नहीं होते। फिर भी अगर युद्ध भड़कता है तो शांति बहाल करने की स्थानीय क्षमताएं वहां मौजूद होती हैं, वास्तव में कुछ तो युद्ध के अनुभव से जागते हैं। शांति स्थापित करने की क्षमताएं महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे वह आधार मुहैया कराती हैं जिन पर आगे चल कर शांति बहाल की जा सकती है। वे राजनीतिक एवं आर्थिक मेल-जोल की व्यवस्थाओं के वर्तमान व भावी ऐसे ढांचे हैं जो संघर्ष प्रभावित समाजों के लिए एक स्थायी, शांतिपूर्ण व न्यायपूर्ण भविष्य सुनिश्चित कर सकते हैं।

हमने शांति स्थापित करने की क्षमताओं और समन्वयकों की पांच श्रेणियां चिन्हित की हैं (हम इन श्रेणियों की चर्चा बाद में करेंगे, क्योंकि ये युद्ध क्षमताओं और विभाजकों से सम्बद्ध हैं)। ये श्रेणियां हैं- व्यवस्थाएं एवं संस्थान, व्यवहार एवं रवैये, मूल्य एवं हित, साझे अनुभव और प्रतीक एवम् पर्व। ये श्रेणियां स्थाई या परस्पर बदली न जा सकने वाली श्रेणियां नहीं हैं, बल्कि ये अक़सर गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। पाए जाने वाले समन्वयकों की व्यापकता दिखाने के लिए हम पांचों श्रेणियों को शामिल कर रहे हैं। हम राहतकर्मियों के बीच यह जागरूकता पैदा कराने की उम्मीद कर रहे हैं कि शांति स्थापित करने की क्षमताएं किन लोगों में तलाशी जाएं और उन्हें समर्थन देने के अवसरों को कैसे पहचाना जाए।

व्यवस्थाएं और संस्थान : गृहयुद्ध शुरू हो जाने वाले सभी समाजों में लड़ाई के मोर्चों के पार बाज़ार लोगों को आपस में जोड़ती रहती है। कभी-कभी तो ठेकों और तीसरे देश में स्थित बैंक खातों के माध्यम से परस्पर दुश्मन देशों के बीच व्यापार चलाया जाता है। कभी-कभी तो धंधा या व्यापार पारंपरिक शनिवार बाज़ारों में सुबह-सबेरे चलाया जाता है। इन बाज़ारों में महिलाएं घर में तैयार किए गए माल के साथ पहुंचती हैं। बाज़ार ऐसे स्थल बन सकते हैं जहां युद्ध द्वारा परस्पर बांट दिए गए लोग एक दूसरे से मिलते हैं और बातचीत करते हैं और इस तरह उन रिश्तों को बनाए रखते हैं जिनकी वे कद्र करते हैं। या फिर बाज़ार ज़रूरी वस्तुओं के वितरण के लिए एक संगठित तरीक़े का प्रतिनिधित्व करती है और कुछ लोगों के लिए यह मुनाफ़ा कमाने का स्थान बनती हैं। जो भी हो, बाज़ार हमेशा ही रहते हैं।

गृहयुद्ध प्रभावित समाजों में संरचनागत ढांचा भी लोगों को परस्पर जोड़ने का काम कर रहा है। बिजली, पानी, संचार व्यवस्थाएं और सड़कें भी आपस में युद्ध लड़ रहे लोगों को एक दूसरे से जोड़ सकती हैं क्योंकि ये लोग सामूहिक रूप से इन पर निर्भर होते हैं और इसीलिए युद्ध के दौरान भी इन्हें बने रहने देते हैं।

लड़ते रहने के बावजूद सभी पक्षों के लिए कुछ संस्थानों का महत्व बना रहता है। उदाहरण के तौर पर, युद्ध के दौरान संचार-तंत्र लोगों को एक दूसरे से जोड़े रख सकता है। अनेक युद्ध वाले इलाक़ों में हमें बताया गया है कि जो सभी तरफ़ है उनके लिए बी.बी.सी. घटनाओं के बारे में सच बताने का ज़रिया बन जाता है। लोग इस बात की तारीफ़ करते हैं कि वे लोग और ''दूसरा पक्ष'' एक ही खबरें सुन रहे हैं। जब लड़ाई ने उन्हें बांट दिया तब तुसला में एक समूह ने एक कमरे में कम्प्यूटर लगा लिए ताकि उनके जो सहयोगी और दोस्त सर्ब की तरफ हैं उनसे ई-मेल के माध्यम से बात कर सकें।

व्यवस्थाएं और संस्थान लोगों को सीधे-सीधे एक दूसरे से मिला सकते हैं (जैसा कि बाज़ारों में और व्यक्तिगत संचार साधनों के द्वारा), या फिर वे लोगों को बिना सीधे या आमने-सामने मिलाए एक दूसरे से जोड़ सकते हैं (जैसे कि बी.बी.सी. और बिजली के ग्रिड द्वारा)। दोनों ही घटनाओं में वे जुड़ाव और निरंतरता देते हैं भले ही संघर्ष में लोग बंटे हुए हों।

व्यवहार और रवैये : समन्वयकों की एक दूसरी श्रेणी लोगों के गैर-युद्धीय व्यवहारों और रवैयों में मिलती है। युद्ध के दौरान कुछ व्यक्ति और समूह दूसरे पक्ष के लोगों के लिए सहनशीलता, स्वीकृति, और यहां तक कि प्यार की भी अभिव्यक्ति करते हैं। वे ''दूसरों'' को घिसे-पिटे खांचे में रखने या दानव का रूप देने से मना कर देते हैं और वे अपने पक्ष की विफलताओं और ग़लतियों को महत्व देते हैं।

सघर्ष प्रभावित हर एक इलाक़े में कुछ व्यक्ति और समूह गैर-युद्धीय तरीक़े अख़्तियार किए रखना जारी रखते हैं और ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं जिन्हें युद्ध ग़लत ठहराएगा। वे दूसरे पक्ष के लोगों के साथ मिलकर संगठन तैयार करते हैं। कुछ स्थानों में तो प्रोफेसरों ने खुद को अंतर्समूह लड़ाई से अलग रखा है और शैक्षणिक जर्नल निकालते रहना या फिर अपने-अपने विषयों की सालाना बैठकें आयोजित करना जारी रखा है।

कभी-कभी लोग नए संगठन या संस्थान बना लेते हैं जिनका मक़सद संघर्ष द्वारा किए गए बंटवारों में समन्वय पैदा करना है। इथियोपिया, सोमालिया, इज़रायल, फ़िलीस्तीन और अनेक दूसरी जगहों में महिलाओं ने ऐसी संस्थाएं बनाई हैं जो सामुदायिक कल्याण की ख़ातिर उठाए जाने वाले साझा व्यहारों से संघर्ष के सभी पक्षों के लोगों को जोड़ती हैं। कभी-कभी ये समूह केवल शांति बहाल करने पर अपना ध्यान केंद्रित रखते हैं, कभी-कभी वे ऐसी गतिविधियों के द्वारा भी लोगों को जोड़ते हैं जो संघर्ष से सीधे तौर पर नहीं जुड़ी हैं।

ये लोग दूसरे पक्ष के बच्चों को संकट से उबारते हैं, कभी-कभी तो युद्ध चलने तक वे इन बच्चों को गोद ले लेते हैं। वे दूसरे पक्ष के लोगों को उनके पक्ष से मिली धमकियों से बचाने आगे बढ़ते हैं। रवांडा, बोसनिया और हरज़ेगोविना, भारत और पाकिस्तान में वीरता की ऐसी अनेक गाथाएं सुनाई पड़ती हैं। घमासान संघर्ष के दौरान भी इसमें लोग हिस्सा लेने से साफ़ मना कर देते हैं, वे हिंसा के ख़िलाफ सीधी कार्रवाई कर सकते हैं और जैसा कि हर गृहयुद्ध के दौरान देखा जाता है, व्यक्तिगत साहस दिखाते हुए दूसरे पक्ष के लोगों को चोट और मौत से बचा लेते हैं, भले ही ऐसा करते हुए खुद उन्हें चोट या मौत क्यों न आ जाए।

संघर्ष की ख़िलाफत कर रहा कोई व्यक्ति या समूह इन ग़ैर-युद्धीय रवैयों को जानबूझ कर अपना सकता है। या फिर उन्हें रोज़मर्रा के जीवन में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है क्योंकि

तत्कालीन अर्थों में वे ''सामान्य'' या ''सही'' लगते हैं।

साझे मूल्य और हित : जब किसी भी व्यवस्था को चलाए रखने में लोगों का हित होता है (भले ही वो व्यवस्था दुश्मन द्वारा भी इस्तेमाल की जा रही हो) जैसा कि पहले बताए गए बिजली और सेहत के क्षेत्र को, या जब वे बच्चों के प्रति प्यार जैसे मूल्यों में साझी हिस्सेदारी रखते हैं, तब ये साझी बातें संघर्ष प्रभावित समाजों के लिए समन्वयक का काम कर सकती हैं। यूनिसेफ ने ''शांति के दिन'' और ''शांति के गलियारों'' पर सफलतापूर्वक बातचीत की है जिसके तहत युद्ध प्रभावित क्षेत्रों के सभी पक्ष बच्चों को टीका लगाना सुगम बनाने पर सहमत हुए हैं। कोई भी पक्ष अपने बच्चों को बची जा सकने वाली बीमारियों से मरने नहीं देना चाहता और इसीलिए हर एक चाहता है कि दूसरे पक्ष के बच्चों का भी ख़्याल रखा जाए। दक्षिणी सूडान में सहायता कर्मचारी रिपोर्ट पेश करते हैं कि कुछ समय के लिए स्वास्थ्य कर्मचारी सीमा पार कर सकते थे जबकि खाने-पीने की चीज़ उपलब्ध कराने वाले ऐसा नहीं कर सकते थे क्योंकि लोगों ने सेहत से जुड़ी सेवाओं को हासिल करने के हर एक व्यक्ति के अधिकार को मान्यता दे दी थी।

साझे अनुभव : एक साझा अनुभव, फिर भले ही वह युद्ध का ही क्यों न हो, किसी भी संघर्ष के विरोधी पक्षों के लोगों के बीच संबंधों और जुड़ावों का आधार बन सकता है। अपने और अपने परिवार के साझे कष्टों का ज़िक्र करते हुए महिलाएं दूसरे पक्ष की महिलाओं के साथ समान अनुभूति रखती हैं। मध्य अमेरिका के एक ग़ैर-सरकारी संगठन ने युद्ध के बाद एक उत्पादन संयंत्र लगाया जिसमें कामगारों के रूप में उनकी भर्ती की गई जो हालिया युद्ध में घायल हुए थे। एक कर्मचारी का कहना था, ''एक बार जब एक टांग कट जाती है तो सभी एक समान हो जाते हैं फिर इसका कोई मतलब नहीं रह जाता कि आप किस तरफ़ लड़े थे।''

प्रतीक एवं पर्व : गृहयुद्ध से खंडित हो चुके समाज में राष्ट्रीय कला, संगीत, साहित्य और ऐतिहासिक वर्षगांठें, स्मारक और आयोजन - ये सभी जोड़ने का काम करते हैं। उदाहरण के तौर पर यूनिसेफ़ की पत्रिका 'सावा' के हर अंक में 'हमारी राष्ट्रीय धरोहर' नामक खंड होता था जिसमें कोई राष्ट्रीय स्मारक, ऐतिहासिक घटना या फिर युद्ध के पूर्व की राष्ट्रीय संस्कृति का कोई और आयाम दिया होता था। मक़सद सिर्फ़ यह कहना था कि लेबनॉन सच में एक राष्ट्र है जिसमें रहने वाले सभी लोग इसके इतिहास का हिस्सा रहे हैं।

तनाव/विभेदक/संघर्ष की क्षमता

अनुभव बताता है कि युद्धरत समाजों के पास युद्ध की और लोगों को बांटने की क्षमता भी होती है। हालांकि युद्ध के संदर्भ में 'क्षमताओं' शब्द का इस्तेमाल अटपटा लगता है लेकिन हम ऐसा करते हैं क्योंकि अनुभव बताते हैं कि संघर्षमय परिस्थितियों में स्थानीय क्षमताओं को बढ़ाने के प्रयास में सहायता अनजाने में उन लोगों का समर्थन कर सकती है जो एक ख़ास संदर्भ में युद्ध करने और उसे जारी रखने में ख़ासे सक्रिय हैं। यह जानना ज़रूरी हो जाता है कि किसी ग्रहणशील समाज में सभी क्षमताएं वैसी नहीं होती हैं जिन्हें हम बढ़ाना चाहते हैं।

ऐसा नहीं है कि युद्ध और विभेदकों की क्षमताएं शांति और समन्वयकों की क्षमताओं का प्रतिबिम्ब होती हैं। हालांकि विभेदकों के बारे में भी उन्हीं पांच श्रेणियों में सोचना लाभदायक हैं जिनमें हम समन्वयकों को परिभाषित करते थे लेकिन हर एक श्रेणी में शामिल अनेक तत्व मूल रूप में उनसे अलग हैं जो पहले सूचीबद्ध किए गए थे। किसी संभावित परिस्थिति की वास्तविकता से ख़बरदार रहने के लिए इस अंतर को जानना महत्वपूर्ण है। उदाहरण के तौर पर यह विश्वास करना आसान है कि महिला समूह में शांति की क्षमताएं हैं। हालांकि हमने देखा है कि कुछ परिस्थितियों में महिला समूह युद्ध के सक्रिय समर्थक हैं, वे अपने बच्चों को दूसरे समूहों पर शंका करना और अपने पतियों को योद्धा के रूप में समर्थन देना सिखाती हैं। कभी-कभी तो वे ख़ुद ही हथियार उठा लेती हैं। इसी तरह किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में धर्म एक-दूसरे के खिलाफ लड़ रहे लोगों को जोड़ने का काम करता है, वहीं भिन्न परिस्थितियों में मज़हब उस विभाजन का प्रतीक बन जाता है जिसके इर्द-गिर्द युद्ध चलता है। शांति की क्षमताओं नामक शीर्षकों के तहत आने वाले तत्वों को उन तत्वों से बिल्कुल अलग होना चाहिए जिनकी पहचान समानांतर परिस्थिति में युद्ध की क्षमताओं के रूप में की जाती है।

व्यवस्थाएं और संस्थान : हिंसात्मक संघर्ष की व्यवस्थाओं और संस्थानों में सेनाएं और गैंग, हथियारों का उत्पादन और ख़रीद, और युद्ध प्रचार के माध्यम शामिल हैं। युद्ध के साथ ही ये व्यवस्थाएं पैदा हो जाती हैं और जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता जाता है ये भी मज़बूत होती जाती हैं।

इसके अलावा, समाजों में ऐसी भी व्यवस्थाएं और संस्थान होते हैं जो परंपरागत या ऐतिहासिक स्तर पर लोगों को बांट देते हैं और इस तरह उनके बीच तनाव पैदा कर सकते हैं। इनमें भेदभाव करने वाली, बहिष्कार करने वाली और प्रभुत्व जमाने वाली व्यवस्थाएं शामिल हैं। इन व्यवस्थाओं की प्रतिछाया शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, नौकरियों या समाज की दूसरी भलाईयों तक असमान पहुंच के रूप में दिखाई देती है। इन व्यवस्थाओं के अलग धार्मिक संस्थान हो सकते हैं। वे स्थानिक अलगाव को भी जन्म दे सकती हैं जैसे कि जब विभिन्न समूह देश या शहर के अलग-अलग इलाक़ों में बस जाते हैं या फिर जब उन ग्रामीण या शहरी लोगों या समूहों में तनाव पैदा होता है जो अपनी रोज़ी-रोटी अलग-अलग तरीक़ों से कमाते हैं (उदाहरण के तौर पर काश्तकार या चरवाहे)। इस तरह की व्यवस्थाएं और संस्थान विभिन्न समूहों के बीच के दीर्घकालीन तनाव को प्रदर्शित कर सकते हैं या बढ़ा सकते हैं और संघर्ष पैदा कर सकते हैं या पैदा करने के लिए इस्तेमाल किए जा सकते हैं।

व्यवहार एवं रवैये : हिंसा, धमकी, प्रताड़ना, अत्याचार, गुंडा-गर्दी, बेदख़ली और निष्कासन युद्ध के दौरान उठाए गए ऐसे व्यवहार हैं जो लोगों को बांटते हैं। एक बार शुरू हो जाने पर वे समूहों के बीच में बंटवारे से जुड़े तनाव पैदा कर देते हैं। अविश्वास, शक, भय और घृणा इन व्यवहारों का हिस्सा बन जाते हैं और इनके द्वारा पोषित भी किए जाते हैं। ये व्यवहार और रवैये युद्ध के कुछ माध्यमों द्वारा और अधिक बढ़ावा पाते हैं। इन माध्यमों में शामिल है युद्ध का प्रचार और पैशाचिकरण यानी ''दूसरे'' का अमानवीयकरण कर देना।

उद्‌घोषित संघर्ष के पहले कुछ युद्ध संबंधी रवैये अपना लिए जाते हैं और व्यवहार शामिल कर लिए जाते हैं। पक्षपात, संसाधनों को हथियाने की प्रतियोगिता, शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयां और ख़तरे सभी समाजों का हिस्सा होते हैं। ये भेदभाव करने वाली, बहिष्कार करने वाली और प्रभुत्व जमाने वाली व्यवस्थाओं से पैदा हो सकते हैं या फिर हिंसा को बढ़ाने के लिए इनका इस्तेमाल किया जा सकता है।

भिन्न मूल्य और हित : हालांकि सभी समाजों द्वारा अनेक मूल्य और हित साधे जाते हैं, फिर भी कुछ समाज समूहों को एक-दूसरे से अलग करके देखते हैं। हित साधने वाले वे समूह जो स्थान, व्यवसाय या दूसरी किसी पहचान से परिभाषित होते हैं, सत्ता और संसाधनों के लिए एक-दूसरे से होड़ में रहते हैं। उप-संस्कृतियों और विभिन्न धार्मिक रिश्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले मूल्य लगभग सभी जगह मौजूद होते हैं। केवल बहुत अधिक समरूपी समाज ही (जो बहुत कम हैं) ऐसे हैं जो कि समूहों की स्पष्ट पहचान बताने की इच्छा और सत्ता व संसाधनों का दूसरे समूहों के साथ समान बंटवारे की तमन्ना से पैदा हुए वर्तमान तनावों को नहीं झेलते हैं।

अनेक हालिया युद्धों को प्रभावित करने वाले परस्पर विरोधी हितों में बाहरी ताक़तें भी शामिल हैं जो दूसरे समाजों में चल रहे संघर्षों को आगे बढ़ाती हैं या फिर उनका समर्थन करती हैं। कुछ मामलों में तो बाहरी ताक़तों का स्वार्थ यह भी होता है कि दूसरे देश में कौन सत्ता पर क़ाबिज़ हो रहा है, कुछ अन्य देशों में उनकी रुचि बस इतनी भर रहती है कि युद्ध में फंसे देश में अस्थिरता बनी रहे (कुछ कारणों से यह बाहरी ताक़त के घरेलू या सुरक्षा हितों को फ़ायदा पहुंचाता है)।

भिन्न तरह के अनुभव : जबकि साझा अनुभव लोगों को जोड़ता है, अलग-अलग तरह के अनुभव उन्हें बांट सकते हैं। दुनिया कैसी हो; क्या सही है और क्या ग़लत है; इंसाफ़ क्या है और बेइंसाफ़ी क्या है - इनके बारे में सभी नज़रिये सीधे और फ़ौरी तौर पर हासिल अनुभव की देन होते हैं। उदाहरण के तौर पर, जब किसी देश की क़ानून-व्यवस्था विभिन्न समूहों के साथ अलग-अलग ढंग से बर्ताव करती है तब एक समूह के लिए वो व्यवस्था सुरक्षा प्रदान करने वाली हो सकती है, जबकि दूसरा समूह उसी व्यवस्था से खुद के लिए ख़तरा महसूस कर सकता है। यह भेदभाव तनाव पैदा करके लोगों को बांट सकता है।

प्रतीक और पर्व : और अंत में जहां एक तरफ़ राष्ट्रीय प्रतीक और पर्व/अवसर लोगों को जोड़ने का काम करते हैं वहीं दूसरी तरफ़ विभिन्न उपसमूहों के प्रतीक और पर्व मतभेद बढ़ा सकते हैं और समूहों के बीच तनाव, भय, संदेह और वैमनस्य पैदा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति का इस्तेमाल आसानी से लोगों के बीच दरार पैदा करने के लिए किया जा सकता है।

शांति और युद्ध की क्षमताओं को समझना महत्वपूर्ण है

जैसा कि इस अध्याय के आरंभ में ही ध्यान खींचा गया है, अगर सहायता देने वाले सिर्फ़ उन्हीं कारकों से वाक़िफ़ हैं जो समुदायों को बांटते हैं और अगर वे जोड़ने वाले कारकों को नहीं पहचानते व उनसे संबंध नहीं स्थापित करते हैं तो उनके द्वारा दी जा रही सहायता बांटने वाले कारकों को बढ़ावा दे सकती हैं और जुड़ाव पैदा करने वाले कारकों के महत्व को घटा सकती हैं। इसलिए सहायता कर्मचारियों के लिए यह निर्धारित कर लेना बहुत ज़रूरी है कि जिस इलाक़े में वे काम कर रहे हैं वहां कौन से तत्व लोगों को जोड़ते हैं और कौन से उन्हें बांटने का काम करते हैं। सभी समाजों में, समन्वयक और विभेदक दोनों ही होते हैं, फिर चाहे वे समाज युद्धरत हों या युद्ध में शामिल न हों। यह मानते हुए कि समन्वयक होते ही नहीं है, ''सफ़ल'' युद्ध सरगना उस सीमा तक विभेदकों और तनाव के ज़रियों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं जिस सीमा तक वे अपने लक्ष्य के लिए लड़ते रहने में जन समर्थन पर निर्भर रहते हैं। साझे सरोकारों और साझा मूल्यों, अनुभवों और व्यवस्थाओं की पहचान करने और उन पर ज़ोर देने से ग़ैर-युद्धीय समस्याओं के समाधान के प्रति लोगों की प्रतिबद्धता बढ़ती है।

शांति की क्षमताओं और समन्वयकों के बारे में रोमानी न होना महत्वपूर्ण है। कुछ जगहों में जहां महिलाएं दल संबंधी स्वार्थों के परे जाकर अपने परिवारों के कष्टों के साझा चरित्र पर ज़ोर डालती हैं, वहीं दूसरी जगहों पर महिलाएं देर तक चलते रहने वाले संघर्ष का परचम उठाए रहती हैं और अपने प्रियजनों की तकलीफ़ों का बदला लेने की बात करती रहती हैं। कहने का मतलब है कि जो किसी क्षेत्र में शांति की क्षमता हो सकती है वहीं दूसरे क्षेत्र में अंतर्समूह विभेदकों को बढ़ावा दे सकती है।

अनुभव सिखाता है कि ज़्यादातर लोगों के पास शांति और युद्ध दोनों के लिए ही क्षमताएं होती हैं। कुछ योद्धा तो संघर्ष के प्रति पूरी तरह से कटिबद्ध होते हैं और कुछ शांतिकर्मी शांति स्थापित करने के प्रति पूरी तरह से कटिबद्ध होते हैं। हालांकि ज़्यादातर लोग कभी युद्ध को समर्थन देते हैं तो कभी ग़ैर-युद्धीय तरीक़ों से काम करते हैं, वे युद्ध को बढ़ावा देने वाले और ग़ैर-युद्धीय दोनों ही रवैयों को अभिव्यक्त करते हैं। ख़ासकर गृहयुद्धों के दौरान लोग अक़सर दोनों स्थितियों के बीच झूलते नज़र आते हैं।

यहां पर एक अतिरिक्त बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए। 'लोकल कैपेसिटीज़ फ़ॉर पीस' प्रोजेक्ट की कार्यशाला में एक सहभागी का कहना था, ''शांति के लिए क्षमताओं की पहचान करने में हम सहायता देने वालों की तुलना में युद्ध करने वाले कहीं ज़्यादा बेहतर हैं।'' चूंकि शांति के लिए क्षमताएं लोगों को जोड़ती हैं इसलिए अक़सर वे योद्धाओं के निशाने पर होती हैं। लोगों को परस्पर जोड़ने वाली बिजली व्यवस्थाएं, सिंचाई नेटवर्क, और विभिन्न बाज़ारें आतंकवाद और विनाश का शिकार बनती हैं। व्यक्तिगत या समूह स्तर पर जो कोई भी शांति के सक्रिय प्रयास करता है उसे धमकी मिल सकती है या फिर वह मारा जा सकता है। युद्ध का प्रचार साझे इतिहास, साझे मूल्यों और साझी संस्कृति को चुनौती देता है और उन्हें पुनर्व्याख्यायित करता है। सहायता देने वालों के लिए चुनौती दोनों स्तरों पर है - पहला शांति के लिए क्षमताओं को पहचानना और दूसरा उन्हें दोबारा लागू करने और उनका समर्थन करने के उचित रास्ते तलाशना, बिना साथ ही इस बात की संभावना बढ़ाए हुए कि वे युद्ध को जारी रखने वालों के हाथों न तो शिकार बनेंगे और न ही बर्बाद होंगे।

बनारस के शान्त होते करघे

■ सुजाता मधोक

भारतीय सरकार ने विश्व व्यापार संगठन के साथ लगातार सन्धियां कर भारतीय उत्पादों की सुरक्षा हटा ली है। आयात पर कर या तो कम कर दिये हैं या पूर्णतः उठा लिये गये...

एक सूने गांव में एक आदमी चुपचाप अपने करघे पर काम कर रहा है। क़रीब जाने पर आप देखेंगे कि वह ज़मीन में गड्ढा खोद कर बैठा हुआ है। अधेड़ उम्र के साधारण से दिखने वाले हरिराम की उंगलियां अपने परंपरागत एक गड्ढे वाले करघे पर जादू बुनती हैं। धीरे-धीरे रेशम बुनता जाता है और उस पर सुनहले धागों से आम की छवियां उभरने लगती हैं। यह शादी में पहनी जाने वाली परंपरागत बनारसी साड़ी है, रेशम के एक-एक धागे से सपने, परंपरा और रिवाज़ पांच मीटर के कपड़े पर सजीव हो उठते हैं।

राम एक कुशल कारीगर है जिसने अपना हुनर आठ साल की उम्र में सीखना शुरू कर दिया और पूरा जीवन इसी कार्य में लगाया। पहले बुनकरी एक उत्तम हस्तकला मानी जाती थी और उसकी आमदनी भी अच्छी थी परन्तु आज हरिराम की भांति बनारस के हज़ारों बुनकरों के पास बहुत कम काम है जिससे धेले भर की कमाई ही हो पाती है। हरिराम के गांव कुमाओली में एक समय सत्तर करघे थे आज महज़ चार बचे हैं।

इस पवित्र नगरी के आस-पास के दर्जनों गांवों में करघे जर्जरता के चरम पर पहुंच गए हैं। जो स्त्री-पुरुष करघों पर बुनकरी करते थे वे आज आजीविका के लिए दिहाड़ी मजदूरी कर रहे हैं। लेकिन हरिराम के पास यह भी चारा नहीं, बचपन से वे चल नहीं पाते, करघा और बुनकरी ही उनका एकमात्र सहारा है।

दूसरी कहानियां :

गिरिजा देवी ने रेशम की कताई, रंगाई और बुनने की प्रक्रिया बचपन से ही सीख ली थी। बॉबिन्स में भांति-भांति के रंगों से सुन्दर आकृति भरकर वे 'स्पेशल डिज़ाइन' तैयार करती हैं। वे अक़सर अपने पति या किसी और बुनकर के साथ बैठकर रेशम या ज़री से महीन नमूने बनाती हैं। वे बताती हैं कि उनकी दादी के ज़माने में शुद्ध सोने और चांदी के धागों से ज़री का काम हुआ करता था, यहां तक कि बचे हुए धागे तक बिक जाते थे। गिरिजा का कहना है कि पहले बुनकरों की स्थिति काफी ठीक-ठाक थी, वे कुछ पैसा बचा पाते थे और शादियां भी काफी धूमधाम से होती थीं लेकिन पिछले कुछ सालों से सब कुछ बदल गया है।

चूंकि सिर्फ बुनकरी से ही घर नहीं चलाया जा सकता अतः गिरिजा और उनके जैसी दूसरी महिलाओं ने अपनी थोड़ी-थोड़ी ज़मीन में फूल उगाने शुरू कर दिये हैं। फिर वे इन पीले गेंदे और चम्पा के सफेद फूलों को इस पवित्र नगरी के घाटों पर बेच आती हैं।

गिरिजा खुशनसीब है कि उनके पास थोड़ी ज़मीन है और ह्यूमन वेलफेयर एसोसिएशन (एच.डब्ल्यू.ए.) नामक एन. जी.ओ. की मदद से उन्होंने स्वयं सहायता समूह संगठित कर फूलों के व्यापार को शुरू किया। इस काम से उन्हें नियमित आय होती रहती है, उनके बच्चे एक प्राइवेट इंग्लिश स्कूल में पढ़ने जाते हैं हालांकि वे खुद साक्षर नहीं हैं लेकिन ऐसे बुनकरों की संख्या अधिक है जिनके पास अपने करघों के अलावा कुछ नहीं है।

उषा देवी के पति प्यारेलाल और उनके भाई ने तो अपना काम ही बदल लिया। वे अब बोरवेल खोदने का काम करते हैं। साथ ही वे एक स्वयं सहायता समूह से 5,000-10,000 का कर्ज़ लेकर मवेशी के व्यापार में भी निवेश करते हैं।

मोटा काम - महीन काम

एच.डब्ल्यू.ए. द्वारा स्थापित एक स्वयं सहायता समूह 'ताना-बाना' की सुपरवाइज़र माधुरी का कहना है, 'जिन बुनकरों ने अपना पूरा जीवन लगाकर महीन काम सीखा अब उन्हें मोटा काम करना पड़ रहा है। इस तरह उन्हें थोड़ा पैसा मिल जाता है अतः बुनकर अब रिक्शा खींच रहे हैं जो कम-से-कम भूखों मर जाने से बेहतर है।'

स्थिति यहां तक कैसे पहुंची? मशीनीकरण और भूमण्डलीकरण के गठजोड़ ने बनारस के बुनकरों को बर्बाद कर दिया है। यहां के लोग पारंपरिक तौर पर बुनकरी का काम करते हैं। सुदूर कर्नाटक से आया मलबरी सिल्क बनारस के बुनकरों के हाथों विभिन्न प्रक्रियाओं से गुज़रता था जिससे फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की चीज़ें बनती थी। शहर के व्यापारी फिर इन वस्तुओं को खरीदने आते थे जहां

बुनकर अपने काम के उचित दाम वसूलते थे।

उसके बाद आए बिजली वाले करघे। बनारस के कई अमीर व्यापारियों ने इन पावर लूमों को स्थापित किया और पारंपरिक बनारसी डिज़ाइनों की कॉपी बना ली। पावरलूम में एक साड़ी एक ही दिन में बुनी जा सकती है जो कि बुनकरों को बुनने में दस दिन लग सकते हैं। पावरलूम की साड़ियां हल्की होती हैं और ज़्यादातर ग्राहक हाथ और मशीन की साड़ी में अंतर नहीं कर पाते हैं।

भूमण्डलीकरण ने स्थिति और दूभर कर दी। भारतीय सरकार ने विश्व व्यापार संगठन के साथ लगातार संधियां कर भारतीय उत्पादों की सुरक्षा हटा ली। आयात पर कर या तो कम कर दिये गए या पूर्णतः हटा लिये गए। इसका एक असर यह हुआ कि चाईना से सस्ते रेशम का आयात कई गुना बढ़ गया। इस रेशम का धागा इतना महीन होता है कि उससे हाथों द्वारा काम नहीं किया जा सकता, दूसरी तरफ सस्ते रेशम से व्यापारियों को और फायदा हो गया है।

नवम्बर 2008 में एच.डब्ल्यू.ए. के नेतृत्व में गुस्साये बुनकरों ने बनारस में प्रदर्शन किया और सरकार से मांग की कि हथकरघा उद्योग को बचाने के लिए वे रेशम के आयात पर रोक लगाएं। ये बुनकर लगातार उत्तर प्रदेश व केन्द्रीय सरकार के सामने अपनी परेशानियां उठाते रहे हैं और मांग यह है कि आयात में उनके हितों का ख्याल रखा जाए तथा हेण्डलूम सेक्टर को बचाने के लिए योजना बनाई जाए। नवम्बर 2008 में चन्दौली जिले के दुलईपुर सतपोखरी गांव में एक जन-सुनवाई में 100 से ज़्यादा बुनकरों ने भाग लिया जहां उन्होंने अपने काम और कमाई पर चिन्ता व व्यथा प्रकट की।

हमीदपुर गांव के 15 बुनकरों के नुमाइंदे फय्याजुद्दीन अंसारी ने कहा, 'बाज़ार तो लगातार बढ़ रहा है लेकिन क्या हमारी मज़दूरी बढ़ रही है? हम 50,000 रुपये का शॉल बनाने वाले बुनकर-मज़दूर अपनी मज़दूरी का कुछ नहीं पाते। कातेसर गांव की शीला बाई का कहना है, 'मज़दूरी की दर इतनी कम है कि 7 दिन काम करने पर भी हमें सप्ताह में 2 दिन भूखा रहना पड़ता है।'

कई बुनकरों का कहना है कि उनकी परेशानी सन् 2007 में शुरू हुई जब सरकार ने रेशम आयात में सुधारीकरण की नीति को लागू किया। जो परिवार पहले थोड़े पैसे बचाकर एक घर बनवा लेते थे या ज़मीन खरीद लेते थे आज वो मुश्किल से गुज़ारा चला रहे हैं।

मेंहदी के रंग से रंगी हुई बड़ी सी पीली दाढ़ी वाले अब्दुल वहीन दुःख से बताते हैं कि छोटे बच्चे स्कूल जाने के बजाए काम कर रहे हैं। 'अब बेटियों का ब्याह करना भी मुश्किल हो गया है। कौन 20,000 रुपये ख़र्च कर सकता है? इस बदहाली में मोटरसाइकिल, टी.वी. आदि कहां से लाएं। इस दहेज ने हमारे समाज में जगह बना कर हमें बर्बाद कर दिया है। लोग महाजन से पैसा लेने के लिए मजबूर हैं। इस्लाम में सूद पर पैसे का लेन-देन हराम है मगर आज कितने ही बुनकर सूदखोरों के जाल में फंसे हुए हैं। यह सरकार और उन बड़े व्यापारियों की ग़लती है कि मज़दूरों को उनका पूरा मेहनताना नहीं मिलता।'

सतपोखरी के बाबू हाजी साहब बताते हैं, 'पावरलूम के मालिक बैंक से बीस लाख का लोन उठा सकते हैं और हमें बमुश्किल 10,000 रुपये मिलेंगे और ब्याज़ की दर होगी 10-15 प्रतिशत। किसानों को बिज़ली पर सब्सिडी मिलती है परंतु हमें कमर्शियल कीमत देनी पड़ती है। आज मिंया-बीवी मिलकर पूरे दिन करघे पर हाड़-तोड़ मेहनत करें तो अस्सी रुपये कमायेंगे और तब भी हमारे पास बी.पी.एल. कार्ड नहीं है।'

सुनवाई में स्थानीय स्कूल की प्रिंसिपल भी बुर्के में वहां मौजूद थी। इस युवा महिला ने बुनकरों की व्यथा पर बताया कि 'हमारे 95 प्रतिशत छात्र बुनकरों के घरों से पढ़ने आते हैं। इन घरों में पैसे की खासी तंगी है। कुछ बच्चे सुबह पढ़ते हैं और रात में काम करते हैं। कई बच्चे तो मजबूरन पढ़ना ही छोड़ चुके हैं।'

धूलियापुर से आईं आयशा बेग़म बुनकरों के बीच उन चंद महिलाओं में से एक थीं जो मंच पर आने की हिम्मत जुटा पायीं और कहा, 'इस सुनवाई में हम 30 के आसपास लोग आए हैं। हम काफी मुश्किलों से गुज़र रहे हैं। काम बहुत ही कम है और एक सप्ताह की मजदूरी 200 रुपये ही होती है। इस पर कैसे गुज़ारा हो? जब मर्दों को कोई काम नहीं मिल रहा तो घर-बार चलाने की ज़िम्मेदारी औरतों पर आ गयी है। हम हर तरह का छोटा-मोटा काम करके अपना गुज़ारा चला रहे हैं।'

मिलखीपुर से आयी सफेद बालों वाली नुरुन्निसा बेग़म बहुत गुस्से में थीं और श्रोताओं को झिंझोड़ते हुए उन्होनें पूछा, 'सरकार सिर्फ बड़े लोगों की मदद क्यों करती है? उन्हें हर सरकारी योजना का फायदा मिलता है और हम भूखों मरते हैं।'

कार्यकर्ता और पत्रकार भरत डोगरा ने बुनकरों से आग्रह किया कि वे अपने अधिकारों के लिए एकजुट होकर संघर्ष करें, 'एक बात याद रखिये, दस्तकारी बहुत बड़ी कला

है, यह ज़िन्दा रहेगी और हमें यहां यही तय करना है।' उन्होनें गांधी के खादी आंदोलन की याद दिलाई और सरकार की नीतियों की आलोचना की जो जनता को शिक्षा और रोज़गार से जोड़ना चाहती है लेकिन उन कारीगरों को भूल जाती है जिनके पास पहले से कोई-ना-कोई हुनर है।'

लुप्त होती कला

बाल-मज़दूरी पर सरकार की नीति की बुनकर समुदाय पर उल्टी मार पड़ रही है एच.डब्ल्यू.ए. को कई बार ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा है जहां पुलिस ने हैण्डलूम के पास बैठे बच्चों को उठा लिया। अब बुनकर अपने बच्चों को बुनकरी सिखाने से डरते हैं। तब भी बुनकर परिवारों की स्थिति इतनी भयावह है कि महिलाओं और बच्चों को दूसरे काम करने पड़ते हैं। दुलाईपुर के किसी घर में चले जाइये आपको औरतें और लड़कियां अड्डे पर बैठी मिलेंगी। अड्डा लकड़ी के उस 'फ्रेम' को कहते हैं जिस पर वे पावरलूम से तैयार साड़ी पर मोती, सलमा-सितारे टांकने का काम करती हैं। यह काम बड़े व्यापारियों द्वारा आउटसोर्स किया जाता है। एक औरत इस तरह के दस घण्टे के काम से चालीस रुपये तक कमा लेती है। 'हमने खुद कसीदाकारी का काम सीखा ताकि हम अपना गुज़ारा चला सकें।' नूरजहां कहती हैं।

यहां तक की बूढ़े भी काम करने पर मजबूर हैं। दुलाईपुर के एक संयुक्त परिवार में एक बंद पड़ी हैण्डलूम के पीछे से एक बूढ़ा बुनकर बड़ी खिन्नता से प्लास्टिक के फूलों के ढेर को दिखाता हुआ कहता है कि 'हम इन्हें भी बगीचों में रखते हैं ताकि बिक्री चलती रहे।'

साभार : द हिंदू

isd **इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए